जागोरी की पत्रिका
जनवरी–जून 2014

हम सबला

इस अंक में
न्याय के आयाम

सीना पिरोना है धन्धा पुराना
हमें दो ये दुनिया गर रफ़ू है कराना

हम सबला

जनवरी-जून 2014

इस अंक में

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
वीणा शिवपुरी (अनुवाद सहयोग)
अनामिका
सीमा श्रीवास्तव
शर्मिला भगत
गीता नम्बीशन

सलाहकार
जया श्रीवास्तव
विभूति पटेल
सुनीता धर

मुख पृष्ठ
साभार: *हंसना तो संघर्षों में भी ज़रूरी है*
कमला भसीन एवं बिंदिया थापर, जागोरी प्रकाशन

पिछला कवर
फ़ोटो साभार:
1. विशाल मनराल-ईव एंसलर के साथ, *ओबीआर अभियान* का जश्न, 2013, दिल्ली
2. इला रेड्डी-पार्वती बाउल, *ओबीआर अभियान* 2013, दिल्ली के लिए गाते हुए
3. डेविड हुआंग-*ओबीआर अभियान*, 16 दिसम्बर 2013, हिमाचल प्रदेश
4. मोहित वर्मा, महिला पोस्ट ग्रेजुएट गवर्नमेंट कॉलेज, सेक्टर 42, चंडीगढ़
5. डेविड हुआंग-*ओबीआर अभियान*, 16 दिसम्बर 2013, हिमाचल प्रदेश
6. एस. जेम्स, *द हिन्दू*, मदुरई
7. शक्ति समूह व साथी समूह, *ओबीआर अभियान*, बवाना, दिल्ली

पृष्ठ सज्जा
विनय आदित्य, यशवंत सिंह रावत

सज्जा व मुद्रण: सिस्टम्स विज़न
systemsvision@gmail.com

बी-114, शिवालिक, नई दिल्ली 110017
ई-मेल: humsabla.patrika@jagori.org
वेबसाइट: www.jagori.org
दूरभाष: 26691219, 26691220
हेल्पलाइन: 26692700

हमारी बात — जुही जैन — 1

लेख
पुरुषों के लिए न्याय: मर्दानगी की नई व्याख्या — हर्ष मंदर — 6
स्कूलों में दलित-आदिवासी बच्चों का सच — विमला रामचंद्रन/ तारामणि नाओरेम — 10
प्रतिगामी राज्य — ऋतु मेनन — 14
न्याय का अन्याय: शालीशी अदालतें — जयदीप मजूमदार — 43

कविता
अपनी दुनिया बनाने का वादा करें — कमला भसीन — 5
बस एक बार/औरत का रूप — चन्द्रप्रभा कौल — 9
लगातार/पीछे/शब्द/किसी दूसरी जगह/पैर — ज्योत्सना मिलन — 36/48

अभियान
न्याय के लिए *उमड़ते सौ करोड़* — कमला भसीन — 2
राष्ट्रीय स्वास्थ्य अभियान की गारंटी — शकुंतला भालेराव — 32

संवाद
एकल हैं, अकेली नहीं! — पारुल चौधरी — 18
यौनकर्मियों के लिए न्याय कहां? — आरती पाई / मीना सरस्वती सेषु — 34
एक 'स्थगित' ख़्वाब का आख़िर होता क्या है? — अरविंद नारायण — 40

कहानी
रूपसी मन्ना — महाश्वेता देवी — 24

आपबीती
एक 'व्यवस्थित' पागलपन — रेशमा वलिअप्पन — 16

आमने-सामने
अंतिम निषेध का सामना: मासिक धर्म — क्रिस्टोफर डब्ल्यू विलियम्स — 8
सबके लिए भोजन: क्या हम ऐसा कर सकते हैं? — वी. रुकमणि राव — 21
पेंशन का अधिकार — मज़दूर किसान शक्ति संगठन — 37

पुस्तक परिचय
कोई इतना अंधा नहीं है — वीणा शिवपुरी — 45

फ़िल्म समीक्षा
न्याय का आह्वान — जुही जैन — 47

हमारी बात

न्याय आख़िर है क्या?

मुंबई के शक्ति मिल बलात्कार मामले में अदालत ने आरोपियों को मौत की सज़ा सुनाई। सरकारी वकील ने अपनी पुरज़ोर बहस में पितृसत्तात्मक मानसिकता के साथ न्याय के पक्ष को जोड़ते हुए इस जघन्य अपराध के लिए मृत्यु दंड की पैरवी की। इस फ़ैसले के बाद जहां एक ओर लोगों ने अदालत के इंसाफ़ की सराहना की वहीं दूसरी ओर नारीवादियों ने इसे न्यायोचित न मानते हुए इसका विरोध किया। नारीवादियों के अनुसार बलात्कार औरत के साथ होने वाला एक जघन्य अपराध है परन्तु इसे उसके ख़िलाफ़ होने वाला सर्वाधिक संगीन जुर्म नहीं माना जा सकता। आम धारणा के विपरीत बलात्कार होने के बाद औरत की ज़िंदगी खत्म नहीं हो जाती और न ही वह कोई 'ज़िंदा लाश' की तरह अपना जीवन बसर करती है। बलात्कार को हत्या के अपराध की तरह देखने का क़ानूनी नज़रिया भी सही नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर अपराधी बलात्कार करने के बाद औरत की हत्या करने में कत्तई संकोच नहीं करेंगे। इसके अलावा औरतें भी बलात्कार की रिपोर्ट करने के बारे में दो बार सोचने लगेगीं खासतौर पर जब अपराध करने वाला उनका कोई जानकार या नज़दीकी संबंधी हो।

इसलिए हमारा विश्वास है कि मृत्युदंड की सज़ा महिलाओं के ख़िलाफ़ हो रहे अपराधों में 'न्याय' की बहाली नहीं हो सकती। हम राज्य व पुलिस की जवाबदेही की मांग करते हुए राज्य द्वारा किसी भी व्यक्ति के जीने का अधिकार के हनन का विरोध करते हैं। हम यह मानते हैं कि बदला लेने की भावना या हिंसा पर आधारित न्याय एक सभ्य और बराबरी चाहने वाले समाज का हिस्सा नहीं हो सकते।

हमारी न्याय की परिभाषा संकीर्ण या संकुचित भी नहीं है। सही मायने में न्याय तो भेदभाव, तिरस्कार, कमतरी और असमान सत्ता संबंधों को त्यागने में ही है। न्याय की परिभाषा में अपराधी को बदलने और अपनी गलती का प्रायश्चित करने का मौका प्रदान करना शामिल है। न्याय के मायने हैं औरतों और लड़कियों के लिए समान मौके, समान शिक्षा, समान प्यार और समान देखभाल। न्याय का अर्थ है अपने दायित्वों को समझना और उन्हें पूरा करना। गरीब-अमीर, छोटे-बड़े, सत्तावान और सत्ताहीन, असमान समाज की जगह एक ऐसे समाज की रचना जहां सभी सुरक्षित, आज़ाद और निडर हों। जहां शोषण, दमन और उत्पीड़न की जगह प्यार, सदभाव और सम्मान के मूल्य पनपते हों।

हम सबला के इस अंक में हम आपके साथ न्याय की अपनी इसी सोच को साझा कर रहे हैं। हर वर्ग, तबके और समुदाय के लिए न्याय के मायने क्या हैं और क्या होने चाहिए, यही नज़रिया अलग-अलग लेखों के माध्यम से सामने रखने की कोशिश इस अंक में की गई है। एक सर्वांगी, सतत और सशक्त समाज की स्थापना में हमारी कोशिशें इन्हीं मूल्यों और विचारों की नींव पर टिकी हैं। हम इस मत पर भी क़ायम हैं कि अमन और खुशहाली लाने के लिए जीवन के हर स्तर पर न्याय को सर्वोपरि रखने से ही हम एक बेहतर, सशक्त और समानता आधारित समाज की रचना में अपना योगदान कर पाएंगे।

जुही

अभियान

न्याय के लिए *उमड़ते सौ करोड़*

कमला भसीन

बोले रे बोले-हम सारे बोले
इंसाफ़ के लिए- हम सारे बोले
हिसाब के लिए- हम सारे बोले
तोड़ के ख़ामोशी- हम सारे बोले
ताक़त से प्यार नहीं, प्यार की ताक़त
हर महिला को न्याय चाहिए, हर हिंसा पर न्याय चाहिए

इस तरह के नारे लगाते हुए, गीत गाते हुए, नाचते हुए उमड़े थे 207 देशों में करोड़ों स्त्री-पुरुष और बच्चे। 14 फ़रवरी 2014 को ये सब लोग कह रहे थे- "बस्स, औरतों पर हिंसा अब और नहीं।"

भारत में हमने कहा पितृसत्तात्मक सोच सिर्फ़ एक अंधविश्वास है और इसे मिटाना ज़रूरी है। पितृसत्ता हमारे संविधान के ख़िलाफ़ है इसीलिए यह ग़ैर क़ानूनी भी है।

वन बिलियन राइज़िंग (ओबीआर) या उमड़ते सौ करोड़

2012 में दुनिया के अलग-अलग कोनों में एक वैश्विक अभियान शुरू हुआ, महिला हिंसा के ख़िलाफ़ चल रहे संघर्षों को और मज़बूत और गतिशील बनाने के लिए। यह कहने के लिए कि संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार हर तीन में से एक औरत पर हिंसा हो रही है, यानी पूरी दुनिया में 100 करोड़ औरतों पर हिंसा हो रही है। यह दुनिया का सबसे बड़ा और निरन्तर चल रहा युद्ध है। सबसे दुख और शर्म की बात यह है कि यह जंग परिवारों के अन्दर अधिक चल रही है।

उमड़ते सौ करोड़ का आह्वान था कि इस शर्मनाक और दर्दनाक हिंसा के ख़िलाफ़ 14 फरवरी 2013 को 100 करोड़ लोग उमड़ें और कहें, "बस्स, औरतों पर हिंसा अब और नहीं।"

इस अभियान की शुरूआत *वी डे* नामक एक नारीवादी संस्था ने की थी मगर अब यह सबका अभियान था और सब अपने तरीक़े से इसे कर रहे थे। *उमड़ते सौ करोड़ अभियान* 2013 बहुत सफल हुआ। मानव इतिहास में पहली बार 207 देशों में करोड़ों लोग किसी एक मुद्दे पर एक साथ होकर उमड़े।

उमड़ते सौ करोड़ अभियान 2014 ने इंसाफ़ का नारा बुलंद किया। पूरी दुनिया में इस हिंसा पर ख़ामोशी तोड़ने और न्याय की मांग की गई। इंसाफ़ देने और दिलवाने वाली संस्थाओं (जैसे पुलिस, न्यायालय, पंचायत, संसद) पर दबाव डाला गया, उन्हें चुनौतियां दी गईं। लोगों ने न्यायालयों के सामने प्रदर्शन किए। बंगलादेश में नारीवादी समूह उच्चतम न्यायालय के बाहर धरने के लिए उमड़े। जब पुलिस ने वहां मंच बनाने की इजाज़त नहीं दी तो

एक बड़े ट्रक को एक तरफ से खोलकर चलता फिरता मंच बनाया गया।

यूरोपियन यूनियन की संसद के सांसद उमड़े हिंसा के विरोध में। लंदन में ब्रिटिश संसद में भी ऐसा आयोजन हुआ। अमेरिका और फिलीपीन के कुछ शहरों में वहां के मेयर इस अभियान में शामिल हुए।

भारत में तो वैसे ही 16 दिसम्बर 2012 के सामूहिक बलात्कार के बाद से न्याय की मांग ज़ोरों से उठ रही थी। जनता की मांगों के फलस्वरूप भारत में हिंसा पर एक नया क़ानून बना और 16 दिसम्बर के बलात्कार के दोषियों का सज़ा दी गई। हालांकि हिंसा या बलात्कार तो ख़त्म नहीं हुए है, पर इस हिंसा पर ख़ामोशी अवश्य टूटी है। यह सोच भी खत्म हो रही है कि जिस औरत या लड़की का बलात्कार होता है उसकी इज़्ज़त लुट जाती है। हिंसा पर ख़ामोशी के टूटने और न्याय की मांग के कारण भारत में कई सत्ताधारी पुरुष जेलों में हैं।

न्याय की परिभाषा पर मंथन और वाद-विवाद

न्याय के लिए *उमड़ते सौ करोड़ अभियान* की वजह से जगह-जगह न्याय की अवधारणा पर मंथन व विवाद भी हुए। क्या है न्याय? किससे मांग रहे हैं हम न्याय? किस तरह का न्याय चाहते हैं हम? दिल्ली में *जागोरी* ने इस विषय पर गोष्ठी की। जब हम न्याय के बारे में बात करते हैं तो ज़्यादातर हम कोर्ट-कचहरी, पंचायत, वकील, जज, हमारी क़ानून व्यवस्था और पुलिस के बारे में सोचते हैं, और उनसे न्याय की उम्मीद करते हैं। पर जब मैं न्याय या इंसाफ़ के बारे में सोचती हूं तो मैं सिर्फ़ कोर्ट-कचहरी या पुलिस की बात नहीं करती। क़ानूनी न्याय ज़रूरी अवश्य है मगर न्याय के दूसरे अर्थ भी उतने ही अहम हैं जैसे- न्यायपूर्ण व्यवहार और रिश्ते, औचित्य। बिना भेदभाव के व्यवहार मेरे लिए इंसाफ़ की पहली शर्त है। परिवारों में हमें नेक और भेदभाव रहित व्यवहार मिलना भी इंसाफ़ की परिभाषा में आता है और ये इंसाफ़ हमें पुलिस और न्यायालय नहीं दिलवा सकते। इस इंसाफ़ को हर परिवार में पनपना होगा। अगर परिवारों में इंसाफ़ नहीं है तो इंसाफ़ पसंद पुलिसकर्मी और जज कहां से आएंगे? न्यायपूर्ण समाज बनाने की ज़िम्मेदारी हम सबकी है। सबसे पहले हर इन्सान को नेक और न्याय पसन्द बनना होगा। कोर्ट कचहरी वाला न्याय तो बाद में आता है, पर सबसे पहले न्यायपूर्ण व्यवहार जुल्म व हिंसा को रोकेगा।

कर्नाटक के गांवों की नारीवादी बहनों का न्याय

दिसम्बर 2013 में *एक्शन एड* बंगलुरू ने ज़मीन से जुड़ी न्याय और सम्मान दिलवाने वाली छः महिला कर्मियों को सम्मानित किया गया।

सायराबानो ने अपनी बेटी की शादी में गांव की तमाम विधवा औरतों को भी बुलाया। यह सम्मान और निमंत्रण उन्हें पहली बार मिला क्योंकि सायरा स्वयं विधवा हैं। जिन महिलाओं को अमंगली और मनहूस समझ कर हर खुशी के मौके से दूर रखा जाता था, उन्हें मेंहदी लगाई गई, चूड़ियां पहनाई गईं, ठीक वैसे जैसे 'सुहागिनों' के साथ किया गया। 'विधवाओं' को समाज के साथ सम्मान से जोड़ा गया, उन्हें समाज में समाहित किया गया।

न्याय की करुणामयी परिभाषाएं

एक और ग्रामीणकर्मी ज्योति ने अपने गांव की 'विधवाओं' को पंचायत से अधिकार व सम्मान दिलवाया। ये भी तो

न्याय के नमूने हैं और कोर्ट में मिलने वाले न्याय से कम महत्वपूर्ण नहीं।

न्यायपालिकाएं बलात्कार की शिकार महिलाओं को न्याय दें उससे पहले उन्हें स्वीकार करके, उनका सम्मान और सहायता करके समाज उन्हें न्याय दे सकता है। अपने समाज से सम्मान मिलना हमारी गरिमा, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास के लिए आवश्यक है और यह भी इंसाफ़ है। इसी प्रकार शादी-शुदा बेटियों के मां-बाप उनके लिए अपने घरों के दरवाज़े खोलकर उन्हें अन्याय का शिकार होने से बचा सकते हैं। पहले उन्हें दहेज के लिए ससुराल में प्रताड़ित होने देना और बाद में न्याय की पुकार करना मुझे न्यायोचित नहीं लगता।

न्याय की कुछ अवधारणाएं प्रतिशोध या बदले की भावना पर आधारित हैं। बदले की भावना पर आधारित न्याय उचित न्याय नहीं है। इस प्रकार के न्याय के बारे में गांधी जी ने कहा था "आंख के बदले आंख, हम सबको अंधा बना देगी।" उदाहरण के तौर पर बलात्कार के लिए मृत्युदंड या बलात्कारी के लिंग को काटने की मांग करना भी बदले की भावना पर आधारित है। इसलिए अधिकतर नारीवादी मृत्यु दंड के ख़िलाफ़ हैं। एक सभ्य समाज में मृत्युदंड का प्रावधान नहीं होना चाहिए, इसलिए दुनिया के सौ से अधिक देशों में मृत्युदंड को खत्म कर दिया गया है। मेरे लिए न्याय है एक गहरी समझ बनाना, नेक व्यवहार और औचित्य, औरों तक पहुंचने की कोशिश, भेदभाव का तिरस्कार।

अंगुलीमाल के लिए बुद्ध का न्याय

न्याय की जो कहानी मुझे अच्छी लगती है, जो मुझे प्रेरणा व उम्मीद देती है वो है अंगुलीमाल और महात्मा बुद्ध की कहानी। अंगुलीमाल एक हत्यारा था। वह समाज द्वारा निष्कासित, क्रोधी व बदले के लिए हत्या करने वाला व्यक्ति था। हत्या करने के बाद वह मृत व्यक्ति की उंगली काटकर गले में पहन लेता था ताकि लोग उसके दैत्य रूप को देखकर भयभीत हों। चूंकि वह उंगलियों की माला पहनता था इसलिए उसका नाम पड़ा अंगुलीमाल। कहते हैं वह दलित था और दलितों के शोषण का बदला हत्याएं करके और हत्याओं द्वारा लोगों को डराकर अपनी सत्ता जमा कर लेना चाहता था। बुद्ध अकेले थे जब वे उसे जंगल में मिले, मगर वे यह जानते हुए भी अंगुलीमाल खूंखार है वे उससे भयभीत नहीं हुए। अंगुलीमाल ने अपना खूंखार रूप दिखाकर बुद्ध को मारने की धमकी दी। बुद्ध तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके चेहरे और व्यवहार से वही करुणा निकलती रही जो उनका स्वभाव था। अंगुलमाल बुद्ध की करुणा, निडरता, प्रेमभाव देखकर पिघलता गया। अंत में बुद्ध के बुलाने पर उनका शिष्य और बौध भिक्षु बनकर उसने लोगों की बहुत सेवा की।

ईव एन्सलर कहती हैं कि नेक संबंध बनाना न्याय है। अन्याय पीड़ित महिला जब अपनी बात खुलकर कह पाती है, जब लोग उसे समझ-बूझ से सुनते हैं, उसकी बात पर यकीन करते हैं, उसकी सहायता करते हैं तो उसे न्याय मिल गया, ऐसा उनका मानना है।

आज हम बहुत सारे लोग परिवर्तनकारी न्याय चाहते हैं यानी वह न्याय जो जुर्म से जुड़े हर व्यक्ति को बदले, बेहतर बनाए। न्याय चाहने व करते समय हमें इन सब बातों की फ़िक्र होनी चाहिए।

- पीड़ित की सुरक्षा, बेहतरी, उसके दुःख और पीड़ा का निवारण, और उसकी कर्मशीलता।
- जुर्म करने वालों की जवाबदारी व उनके अन्दर परिवर्तन।
- समुदाय की प्रतिक्रिया व उसकी ज़िम्मेदारी व जवाबदारी।
- जो सामाजिक ढांचे व परिस्थितियां जुर्म को बढ़ावा देती हैं उनमें बदलाव।

ये सब होगा परिवर्तनकारी न्याय जो सिर्फ़ हमारे जेल नहीं भरेगा, सिर्फ़ हमारी बदले की भावना को नहीं भड़कायेगा बल्कि हमें अन्याय से न्याय की ओर ले जाएगा, अंधकार से रोशनी की ओर ले जाएगा।

मैं मानती हूं कि लोग पश्चाताप और प्रायश्चित कर सकते हैं। बड़े से बड़े गुनहगार भी बदल सकते हैं। निर्भया बलात्कार मामले में जब आरोपियों को सजा मिली तो इस बात पर तो मैं खुश हुई कि इंसाफ़ काफ़ी जल्दी हुआ मगर सजा-ए-मौत की वजह से मुझे दुःख हुआ। मैं यह मानती हूं कि वे पुरुष हिंसक व बलात्कारी पैदा नहीं हुए थे। समाज का भी हाथ होता है लड़कों और पुरुषों को हिंसक बनाने में। गरीबी, निराशा, शोषण और उत्पीड़न भी ज़िम्मेदार होता है इस व्यवहार के लिए। उम्र कैद उन्हें पश्चाताप और प्रायश्चित करने के अवसर दे सकती थी।

ज्ञानियों से मैंने तो यही सीखा है कि हिंसा का जवाब हिंसा नहीं हो सकता। हिंसा का जवाब अन्ततः प्यार ही होना चाहिए। प्यार की शक्ति से दुश्मनी, कलह, द्वन्द को सुलह में परिवर्तित किया जा सकता है।

उमड़ते सौ करोड़ अभियान का भी यही संदेश है। तभी तो हम *वैलेन्टाईन दिवस* पर उमड़ते हैं और सत्ता के प्यार को, प्यार की सत्ता से जीतना चाहते हैं। प्रेम ही इस हिंसक समाज की मरहम है वही 'हीलिंग टच' या आरोग्य का स्पर्श है।

कमला भसीन *नारीवादी लेखिका व कार्यकर्ता हैं।*

अपनी दुनिया बनाने का वादा करें

चैन ग़ैरों की दुनिया में मिलता नहीं
अपनी दुनिया बनाने का वादा करें

आग अपने ही आंगन की झुलसाये है
अब नये घर बनाने का वादा करें

कैद से छूटने की है ख़्वाहिश हमें
क़ैदख़ाने जलाने का वादा करें

इल्म को गर अमानत समझते हैं हम
इल्म सबको दिलाने का वादा करें

सेहत दौलत जहां में है सबसे बड़ी
अपनी सेहत बनाने का वादा करें

ज़ोर कमज़ोरों पर आज़माते सभी
ताक़त अपनी बढ़ाने का वादा करें

दूसरों को बनाने में ख़ाक हुये
क़िस्मत अपनी बनाने का वादा करें

घर-घर बंट कर अकेले हम घुटते रहे
महफ़िलें अब सजाने का वादा करें

रातें तारीक़ हैं दिन भी तारीक़ हैं
बन के सूरज चमकने का वादा करें

रह कर ख़ामोश ज़ुल्मों को सहते रहे
अब अपनी आवाज़ उठाने का वादा करें।

कमला भसीन

लेख

पुरुषों के लिए न्याय

मर्दानगी की नई व्याख्या

हर्ष मंदर

लगातार तीसरे वर्ष 'वैलन्टाइन डे' पर जब लोग रूमानी प्रेम का उत्सव मनाते हैं, विश्व के 160 देशों में औरतों व मर्दों ने नाच-गा कर एक ऐसे प्रेम की मांग की जो सभी लोगों की सुरक्षा, समानता और आदर पर आधारित हो।

ऐसा अनुमान है कि लगभग 100 करोड़ लड़कियां तथा स्त्रियां अपने जीवन में कभी न कभी हिंसा की शिकार होती हैं। अतः एक भूमंडलीय आह्वान किया गया था, 100 करोड़ स्त्रियों के एक साथ उठ खड़े होने का। इस पुकार ने सारे विश्व में लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा।

पिछले वर्ष इस आन्दोलन का उद्देश्य था लैंगिक हिंसा के विभिन्न रूपों के फैलाव पर ध्यान केंन्द्रित करना। दिल्ली की बस में एक छात्रा के साथ हुए पाशविक सामूहिक बलात्कार से आहत भारतीय जनमानस में इसकी विशेष प्रतिध्वनि सुनाई दी। इस वर्ष की भूमंडलीय मांग थी हिंसा के उत्तर जीवियों के लिए न्याय की। पूरे विश्व में सांकेतिक रूप से हिंसा के विरुद्ध लोगों के एक साथ उठ खड़े होने से हिंसा के उत्तरजीवियों में एकजुटता बढ़ती है, अलग-थलग पड़ जाने की भावना टूटती है तथा न सिर्फ़ उनकी शारीरिक परन्तु आत्माओं पर लगी चोट पर भी मरहम लगता है।

प्रायः यह मान लिया जाता है कि जेंडर समानता के द्वारा दुनिया बेहतर होगी, सुरक्षित और खुशहाल बनेगी तथा लड़कियों व स्त्रियों के लिए सम्मानजनक होगी। एक और बात, जो भुला दी जाती है वह यह है कि इन सबके साथ-साथ दुनिया अधिक दयालु, कम हिंसक तथा पुरुषों के लिए भी कम दबावपूर्ण होगी।

जैसा कि नैन्सी स्मिथ लिखती हैं— *हर एक वह स्त्री जो अबला का नाटक करते-करते थक चुकी है और वह जानती है कि वह सशक्त है, के साथ एक ऐसा पुरुष भी होता है जो सशक्त बने रहने का बोझ उठाते-उठाते थक चुका है क्योंकि वह कमज़ोर महसूस करता है।*

यदि इस संसार को सभी लोगों के लिए अधिक न्यायपूर्ण तथा कम जोखिम भरी जगह के रूप में विकसित करना है तो यह अत्यावश्यक है कि सिर्फ़ स्त्रियों के साथ नहीं बल्कि लड़कों के साथ भी काम किया जाए। अनेक अच्छी संस्थाएं आज मर्दानगी या किस प्रकार से समाज पुरुषों में मर्दानगी की धारणा का निर्माण करता है, के मुद्दे पर काम कर रही हैं।

इन संस्थाओं में मासवा *(मैन्स एक्शन फ़ॉर स्टॉपिंग वायलैन्स अगेंस्ट विमेन),* फ़ैम *(फ़ोरम टू एन्गेज मैन)* द *मैन एन्गेज अलाएन्स* तथा *सनम* शामिल हैं। वे लड़कों तथा पुरुषों के साथ काम करके उन्हें अपने भीतर झांकने और समझने में मदद करती हैं कि किस प्रकार से सामाजीकरण के द्वारा उन पर लगातार मज़बूत, ताक़तवर व सक्षम बने रहने के लिए दबाव डाला जाता है तथा लिंग समान संसार उन्हें भी अपनी इच्छानुसार जीने की आज़ादी देगा।

हर एक बार वह स्त्री जो भावुक औरत कहलाए जाने से थक चुकी है, के साथ एक ऐसा पुरुष भी होता है जिससे रोने का या कोमलतापूर्ण होने का हक़ छीन लिया जाता है।

पितृसत्ता सामाजिक संघटन की एक ऐसी व्यवस्था है जो बुनियादी तौर पर स्त्रियों की तुलना में पुरुष श्रेष्ठता पर आधारित है। मर्दानगी या पुरुषत्व एक सामाजिक रचना है जो मर्द

होने के तौर तरीक़ों के ज़रिए दिखाई देती है। लेकिन जब कोई पुरुष समाज द्वारा स्थापित मर्दानगी की परिभाषा पर खरा नहीं उतरता तब क्या होता है? सभी पुरुष अपने मन की कोमल भावनाओं को कुचल नहीं पाते अथवा पैसा कमाने व अन्य पुरुषों से (अब बढ़ती संख्या में औरतों से भी) होड़ करने में या परिवार पालने में सफल नहीं हो पाते। पुरुष भी आर्थिक, सामाजिक या यौन रूप से असफल हो सकते हैं और होते भी हैं, लेकिन प्रायः ऐसी असफलताओं से निपटने के लिए उनके पास आवश्यक भावनात्मक संसाधन नहीं होते।

हर एक वह स्त्री जो यौन वस्तु बनने से थक चुकी है, के साथ एक ऐसा पुरुष भी होता है जो अपनी यौन क्षमता के प्रति चिंतित होता है।

अपना दबदबा कायम रखने की आवश्यकता तथा अपनी असफलताओं से न निपट पाने की खीज पुरुषों को हिंसक बनाती है। इसीलिए अधिकांश संस्कृतियों में हिंसा, मर्दानगी का एक आवश्यक हिस्सा है। विचारक माइकल कॉफ़मैन ने पाया है कि समाज निर्मित मर्दानगी की ज़रूरी शर्तें पुरुष होने की सामान्य जैविक शर्तों की तुलना में सदैव उन पर सचेत रहने और काम करने का दबाव डालती हैं, विशेष रूप से युवकों पर। मर्दानगी या पुरुषत्व पर खरे न उतर पाने से पैदा व्यक्तिगत असुरक्षा या असफलताओं का केवल डर ही पुरुषों तथा विशेष रूप से युवकों को अकेलेपन, क्रोध, भय, आत्मदंड, आत्मघृणा और आक्रामकता की ओर धकेलने के लिए पर्याप्त है।

हर एक वह स्त्री जो प्रतिस्पर्धा करके मर्दानी कहलाती है, के साथ एक ऐसा पुरुष भी होता है जिसे अपने पुरुषत्व साबित करने का एक मात्र ज़रिया प्रतिस्पर्धा ही नज़र आती है।

मेरा यह निरंतर अनुभव रहा है कि दरअसल में सशक्त पुरुष ही दयालुता और कोमलता का बर्ताव कर सकते हैं। वे कमज़ोर तथा असुरक्षित पुरुष होते हैं जो हिंसा का प्रयोग करते हैं। आज कहीं अधिक संख्या में स्त्रियां श्रम बाज़ार में प्रवेश कर रही हैं परन्तु असमान शर्तों पर कम वेतन, अधिक शोषण, हिंसा का ख़तरा और सामाजिक सुरक्षा के अभाव के साथ। फिर भी मर्द असुरक्षित और परेशान हैं। हिंसा, उन्हें अपनी असुरक्षा और आत्मसम्मान की कमी

की भरपाई करने और क्षणिक ताक़त का अहसास देने में मदद करती है।

हर एक वह औरत जिसे सार्थक रोज़गार या समान वेतन से वंचित किया जाता है, के साथ एक ऐसा पुरुष भी होता है जिसे एक और सम्पूर्ण इंसान का आर्थिक बोझ उठाना पड़ता है।

सफल और ताक़तवर पुरुष जिनके पास वर्ग, धन, सम्पत्ति, नस्ल की ताक़त होती है अपने सम्पूर्ण आधिपत्य के एक भाग के रूप में औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा का इस्तेमाल करते हैं। पुरुष न सिर्फ़ स्त्रियों बल्कि अन्य पुरुषों को भी दबाने की कोशिश करते हैं। दबे हुए शोषित पुरुष औरतों पर हिंसा करके अपनी खोई हुई मर्दानगी को दोबारा पाने की कोशिश करते हैं। यही इनकी सामाजिक शिक्षा है। औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा दरअसल में हारे हुए पुरुषों का अंतिम हथियार है।

आज अनेक स्त्रियों में समानता का जज़्बा पैदा हो गया है और वे अपनी दिल की सुनने और अपनी छिपी प्रतिभा को निखारने के लिए घर के साथ-साथ बाहर भी अनेक बाधाओं से संघर्ष कर रही हैं।

यह पुरुष हैं, जिन्हें अब सीखने की ज़रूरत है कि अपना हक़, सुविधाएं, ताक़त छोड़ें और समझें कि ऐसा करके वे स्वयं भी मुक्त हो जाएंगे।

हर एक वह औरत जो अपनी आज़ादी की दिशा में एक कदम उठाती है, के साथ एक ऐसा पुरुष भी होता है जो समझ पाता है कि उसकी आज़ादी की राह भी कुछ सरल बना दी गई है।

***हर्ष मंदर** जाने माने विचारक व सामाजिक कार्यकर्ता हैं।*

आमने-सामने

अंतिम निषेध का सामना: मासिक धर्म

डॉ. क्रिस्टोफ़र डब्ल्यू विलियम्स

हर क्षेत्र में स्त्रियों की उपलब्धियों की राह की रुकावटें टूट रही हैं। स्त्रियां देश चला रही हैं, बड़े-बड़े व्यवसाय और घर-बार चला रही हैं। वैश्विक रूप से अब अधिक लड़कियां स्कूल-कॉलेज जा रही हैं, पारिवारिक आय कमा रही हैं और सार्वजनिक जीवन में भागीदारी निभा रही हैं। लेकिन आज भी उनकी सम्पूर्ण समानता की राह में एक बड़ा निषेध है— सुरक्षित, स्वच्छ और निजी मासिकधर्म।

अधिकतर धनाड्य देशों की स्त्रियों के लिए मासिक धर्म मात्र एक असुविधा है। उसे सरल बनाने के लिए उनके पास हर प्रकार की चीज़ें उपलब्ध हैं जैसे सेनेटरी पैड, टैम्पून आदि। किसी भी एक दिन में मासिकधर्म से गुज़र रही विश्व की 30 करोड़ (या उनके जीवन के औसतन 3500 दिन) स्त्रियों/लड़कियों में से अनेक के लिए इस प्राकृतिक, जीवनदायी प्रक्रिया का अर्थ होता है अस्वस्थता, शर्मिन्दगी, पढ़ाई/रोज़गार की हानि और हिंसा।

अनेक विकासशील देशों में लाखों लड़कियां/स्त्रियां मासिकधर्म के दिनों में गंदे चिथड़ों, अखबार आदि का इस्तेमाल करती हैं। उन्हें साफ़ पानी, साबुन और शौचालय की सुविधा तक मुहैया नहीं होती। इससे जुड़े मिथक भय, शर्म का अहसास उनके आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को चोट पहुंचता है।

उदाहरण के लिए कुछ गांवों में महीने के इन तीन दिनों के लिए उन्हें परिवार से अलग किसी कमरे या औसारे में रहने के लिए मजबूर किया जाता है। उन्हें रसोई में जाने, स्नान करने या अन्य लोगों से बातचीत करने की भी इजाज़त नहीं होती। प्रायः स्कूल में भी मासिक धर्म वाली लड़कियों को चिढ़ाया अथवा ताने दिए जाते हैं। स्कूल और घरों में शौचालयों की कमी के चलते वे सारा-सारा दिन न अपने शरीर की सफ़ाई कर पाती हैं और न ही गंदे कपड़े को बदल पाती हैं। रात पड़े अंधेरे में बाहर जाना उनकी विवशता होती है जिसके परिणाम स्वरूप वे हिंसा व बलात्कार का खतरा भी उठाती हैं।

सुरक्षित, स्वच्छ और निजी मासिक धर्म उपलब्ध न होने के अनेक अहम सामाजिक परिणाम भी होते हैं। भारत में लगभग एक चौथाई लड़कियां किशोरावस्था के आरंभ के साथ स्कूल जाना छोड़ देती हैं। इसके लिए कुछ हद तक स्कूलों में लड़कियों के लिए अलग शौचालयों का अभाव भी ज़िम्मेदार है।

बहुत सी स्त्रियों को अपने काम, रोज़गार से छुट्टी लेकर कमाई का नुक़सान सहना पड़ता है क्योंकि वहां कपड़ा/पैड बदलने के लिए कोई सुरक्षित निजी स्थान नहीं होता। बंगलादेश में अधिकांश कामगार स्त्रियां महीने में छः दिन अपने काम से छुट्टी करती हैं जिसका अर्थ होता है उत्पादन और विकास में गिरावट। यदि सुरक्षित स्वच्छ और निजी मासिकधर्म स्त्रियों के जीवन और रोज़गार के लिए इतना अधिक महत्वपूर्ण है तो हमें इस विषय पर और अधिक चर्चाएं सुनाई क्यों नहीं देतीं? अन्तर्राष्ट्रीय विकास

या महिला अधिकारों के एजेन्डे पर इस मुद्दे को प्राथमिकता क्यों नहीं मिलती?

इसका उत्तर जुड़ा है हमारी मानसिकता से गहरी जड़ें जमाए रीति-रिवाजों, पूर्वाग्रहों, समाज में स्त्रियों के दर्जे से तथा एक स्वाभाविक परन्तु लिसलिसी शारीरिक प्रक्रिया पर बात करने में दिक्क़त से। परन्तु जैसा कि हमने एचआईवी/एड्स के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई के दौरान सीखा है कि प्रगति के लिए निषेधों को परे धकेलना ज़रूरी है। इन पर चुप्पी को तोड़कर हम ऐसी कार्रवाइयों के लिए दरवाज़े खोलेंगे जिनसे तमाम विश्व में लड़कियों/स्त्रियों का जीवन बदल सकता है।

सरकारों को चाहिए कि इस मुद्दे को आवश्यक प्राथमिकता देकर तुरन्त उचित नीतियां और वित्तीय सहायता उपलब्ध कराएं। सभी स्कूलों और कार्य स्थलों पर लड़कियों, स्त्रियों के लिए अलग शौचालयों की व्यवस्था हो और उन्हें कपड़ा, पैड जैसी अत्यन्त आवश्यक चीज़ें उपलब्ध हों।

उदाहरण के लिए आज भारत की मासिकधर्म आयु वर्ग की केवल 12% लड़कियों, स्त्रियों को बाज़ार में मिलने वाले (सेनेटरी) आरोग्य उत्पाद उपलब्ध हैं जबकि बाकी लड़कियों, स्त्रियों में से अधिकतर फटे-पुराने चिथड़े, अखबार या रुई का प्रयोग करती हैं और इससे संक्रमण व बीमारियों का शिकार बनती हैं।

इस बड़े अभाव की पूर्ति की दिशा में 'ऐफ्रीपैड' जैसे दोबारा इस्तेमाल किए जा सकने वाले सस्ते आरोग्य उत्पाद बनाने वाली संस्थाएं और कम्पनियां महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं।

सबसे अहम परन्तु सबसे कठिन बात यह है कि सामुदायिक नेता मासिकधर्म वाली लड़कियों व औरतों को बंधनों में जकड़ने वाले रीति-रिवाजों और रवैयों के बारे में बोलें तथा मासिक धर्म संबंधी बुनियादी शिक्षा दें।

अनेक देशों में अच्छी प्रेरणास्पद परियोजनाएं चल रही हैं। भारत में एक ग़ैर मुनाफ़े की पहल 'उत्थान' स्त्रियों को अपने घरों में आरोग्यकारी व्यवस्था स्थापित करने में सहायता कर रही है जिससे उन्हें सुरक्षा और निजता प्राप्त होती है। अब और अधिक सरकारें भी इस पर कार्रवाई करने की अपनी ज़िम्मेदारी को समझ रही हैं। कीनिया की सरकार ने राष्ट्रीय आरोग्य नीति में बदलाव करके मासिक धर्म स्वच्छता प्रबंधन को भी उसमें शामिल किया है। ये कार्यक्रम बताते हैं कि परिवर्तन संभव है हालांकि अभी प्रगति बहुत धीमी और छोटे स्तर पर है।

अब समय आ गया है कि सुरक्षित, स्वच्छ और निजी मासिकधर्म के मुद्दे को कटिबद्ध वकालत, वित्तीय सहायता और नीतियों की मदद से प्राथमिकता मिले। महिलाओं के अवसरों और अधिकारों की दिशा में इस अंतिम निषेध को हटाने का प्रभाव संभवतः अन्य किसी कोशिश से कहीं ज़्यादा हो।

साभारः द हिन्दू- मार्च 23, 2014

बस एक बार

बस एक बार, बस एक बार
मुझको भी जग में आने दो
बस एक बार, बस एक बार
चारों ओर अंधेरा है
न जाने कहां सवेरा है
मुझको भी दीप जलाने दो
बस एक बार, बस एक बार।

मैं नन्हीं सी एक कली
तूफ़ानों में पली
जग ने मुझे सदा झकझोरा
फलने से पहले ही तोड़ा
जगत बाग में खिलने दो
बस एक बार, बस एक बार।

औरत का रूप

इस समाज में सदियों से
औरत ने कभी सुख पाया
प्यार न पाया, चैन न पाया
तिरस्कार का हार ही पाया
हार बना बस कांटों से
कांटों ने नारी को चुभकर
पुरुषों का बस दास बनाया।

चन्द्रप्रभा कौल

लेख

स्कूलों में दलित-आदिवासी बच्चों का सच

विमला रामचंद्रन, तारामणि नाओरेम

यह आम सच्चाई है कि हाशिए पर बसने वाले सामाजिक समूहों के बच्चे दूसरे बच्चों की तुलना में अधिक स्कूली पढ़ाई छोड़ देते हैं और इन गरीब वर्गों के शिक्षा संबंधी अनुभव सकारात्मक कम ही होते हैं। शोध से भी स्कूलों में होने वाले लैंगिक अलगाव और बहिष्कार का सच उजागर हुआ है परन्तु केन्द्रिय व राज्य शिक्षा विभाग इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करते। इसलिए जब सर्व शिक्षा अभियान ने भारत के छः राज्यों— आंध्रप्रदेश, असम, बिहार, ओडिशा, मध्य प्रदेश व राजस्थान में शोध अध्ययन के ज़रिए स्कूली अलगाव और शिरकत का निरीक्षण किया तो इस प्रयास को बेहद सराहना मिली।

बच्चों की स्कूल तक पहुंच, गतिविधियों में भागीदारी, सीखना, बढ़ना और आत्म-विश्वासी बनने की क्षमता अनेक कारणों पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति और शिक्षा के अधिकार ने सभी बच्चों को समानता, गरिमा और प्यार के साथ आगे बढ़ने का हक़ दिया। परन्तु शिक्षा के मायने सिर्फ़ पढ़ने-लिखने से नहीं है बल्कि ज़िन्दगी में आगे बढ़ने के लिए सक्षम बनने से भी है और इस लिहाज़ से असमान और भेदभावपूर्ण व्यवहार तथा अलगाव और भागीदारी के मुद्दे बच्चों के भविष्य को प्रभावित करते हैं।

अध्ययन की प्रक्रिया व विस्तार

यह गुणात्मक अध्ययन छः राज्यों के 120 स्कूलों में कक्षा चार से सात के बच्चों के साथ किया गया। चार सदस्यों की टीम ने हर स्कूल में तीन दिन बिताए, जिसमें दोपहर व शाम का समय युवा बच्चों व उनके माता-पिता के साथ बातचीत में बिताया गया। भेदभाव (सामाजिक व लैंगिक) जांचने के लिए कक्षा व स्कूली निरीक्षण, शिक्षकों के साथ साक्षात्कार व फ़ोकस ग्रुप चर्चाएं तथा चौथी से सातवीं कक्षा के बच्चों के साथ गतिविधियों जैसे साधन उपयोग में लाए गए।

कुछ खास विश्लेषण

अधिकांश इलाकों में सरकारी माध्यमिक स्कूल सबसे गरीब बच्चों की ज़रूरतों के संबोधन के लिए स्थापित किए गए थे पर हर राज्य में कुछ विशेष बातें सामने आई हैं। राजस्थान के स्कूलों में सभी वर्गों के बच्चे पाए गए जबकि आंध्र प्रदेश में अधिकतर बच्चे पिछड़े, दलित व आदिवासी वर्गों से थे। असम व ओडिशा में गांवों के बीच भिन्नता स्पष्ट नज़र आती है। यहां चाय बागान समुदाय, गैर असमी पलायनकर्ता समूह और बोडो, कर्बी, चकमा और मिशिंग आदिवासी वर्ग अलग-अलग क्षेत्रों में बसे हैं और उनके बच्चे अक्सर सजातीय स्कूलों में पढ़ते हैं। भारत के सामाजिक मानकों को देखते हुए राजस्थान के अलावा सभी राज्यों में दलितों के साथ आदिवासियों की तुलना में अधिक प्रत्यक्ष भेदभाव देखने को मिला। जिन इलाकों में दलितों की संख्या अधिक थी वहां के व्यवहार और रवैयों में उन गांवों की तुलना में जहां दलित अल्पसंख्यक थे साफ़ अंतर देखने को मिले।

इस अध्ययन से हमें यह भी देखने को मिला कि हमें भागीदारी और अलगाव को अलग-अलग बिन्दुओं से समझने की ज़रूरत है। बाहर से (कौन किस तरह के स्कूल में जाता है, अंदर से स्कूल में क्या होता है) तथा समाज के नज़रिए से (कौन प्रत्यक्ष है, कौन अदृश्य) इसके अलावा समाज और सामाजिक मानकों का स्कूल पर प्रभाव, शिक्षकों की सोच व व्यवहार तथा अभिभावकों व सामुदायिक नेताओं की भागीदारी को भी समझने की ज़रूरत है। दलित व आदिवासियों द्वारा अपने अधिकारों के राजनीतिक और सामाजिक दावे भी रवैयों को प्रभावित करते हैं जैसा कि आंध्र प्रदेश, बिहार व राजस्थान में देखने को मिला। बिहार व राजस्थान में दलित व आदिवासी सामाजिक आंदोलन के कारण जाति-आधारित भेदभाव प्रखर रूप से दिखाई नहीं देता जबकि राजस्थान में भेदभाव बिल्कुल सामने नज़र आता है।

भाषा

भाषा भी अलगाव बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण कारण है। ओडिशा में शिक्षक आदिवासी भाषाएं नहीं जानते और इसलिए उन्हें बच्चों के साथ बातचीत करने में मुश्किलें आती हैं। दूसरे राज्यों जैसे असम व आंध्र प्रदेश में पलायनकर्ता बच्चों को भी भाषा संबंधी समस्याओं से जूझना पड़ता है। राजस्थान में भी स्थानीय भाषाएं स्कूल में पढ़ाई जाने वाली भाषा हिन्दी से काफ़ी अलग हैं।

शिक्षक व अभिभावक

सभी राज्यों में उपयुक्त शिक्षकों की नियुक्ति की कमी देखने को मिली। ऐसा भी था कि नियुक्त शिक्षक रोज़ाना ड्यूटी पर नहीं आते थे। स्कूल के प्रशासन में बच्चों के माता-पिता खासकर दलित व पिछड़े वर्ग के बच्चों के अभिभावकों की कोई भागीदारी नहीं थी। वे स्कूल में होने वाले अलगाव से परिचित तो थे पर उसे नियति या न बदली जाने वाली स्थिति मानते थे।

आम धारणाएं

सभी राज्यों में शिक्षकों का आम विचार था कि हाशियेदार सामाजिक समूहों के बच्चे स्कूल में पिछड़े रहते हैं। परन्तु इन्हीं स्कूलों के आंकड़ों से पता चला कि ये धारणा गलत थी और पिछड़े वर्गों से आने वाले बच्चे पढ़ाई में अच्छा प्रदर्शन कर रहे थे। शिक्षकों का मानना था कि कुछ 'होशियार' दलित व आदिवासी बच्चे मौजूद थे परन्तु शिक्षकों के उनको लेकर विचार पूर्वाग्रह ग्रस्त थे। सभी स्कूलों में बच्चों की नियमित हाज़िरी एक गंभीर विषय था जिसके कई कारण जैसे बीमारी, घर का काम, पलायन, मज़दूरी आदि बताए गए। अधिक गैरहाज़िरी के कारण ये पिछड़े वर्ग के बच्चे और अधिक पिछड़ जाते हैं और शिक्षक इन पर कोई ध्यान नहीं देते। ज़्यादातर शिक्षक केवल आगे बैठने वाले होशियार बच्चों पर ध्यान दे रहे थे जिससे अलगाव बढ़ा था।

दाखिला व हाज़िरी

सभी छः राज्यों में पिछड़ी जातियों से आने वाले बच्चों की संख्या उनके लिए नियत कोटा से कहीं ज़्यादा थी। यह भी पाया गया कि स्कूल के रिकार्ड में दर्ज हाज़िरी और वास्तविक मौजूद बच्चों की संख्या में खासा अंतर था। ग़रीब, भूमिहीन, दिहाड़ी मज़दूर परिवारों के बच्चे खासकर लड़कियां स्कूल से गायब थीं या अक्सर देर से पहुंचती थीं। इस कारण इन बच्चों की स्कूल की गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी नहीं थी।

आधारभूत सुविधाएं तथा बच्चों की पहुंच

सभी राज्यों के स्कूलों में आधारभूत सुविधाएं खराब थीं। शौचालय, कक्षा सभी खस्ता हालत में थे। कुछ स्कूलों में यह साफ़ निकलकर आया कि पानी, शौचालय और सफ़ाई के तरीके जाति व सामुदायिक पहचान आधारित भेदभाव

और अलगाव के गढ़ थे। यह भी उजागर हुआ कि जब कोई प्रतिबद्ध शिक्षक स्थापित सामाजिक व्यवहारों का विरोध करते हैं तो स्कूल में एक समानता का माहौल बनाया जा सकता है।

पानी

शोध ने उजागर किया कि राजस्थान के अधिकांश स्कूलों में सवर्ण जाति के बच्चे पहले पानी पीते थे व अपने खाने के बर्तन धोते थे। मीणा जाति के बच्चे मटके व हैंडपम्प का इस्तेमाल नहीं करते थे। दूसरे बच्चे उन्हें पानी निकालकर देते थे। असम व ओडिशा में पानी की कोई व्यवस्था नहीं थी और बच्चे पीने का पानी घर से लाते थे। मध्य प्रदेश के स्कूलों में ऊंची जाति के बच्चे शिक्षकों के लिए पानी लाते थे। यहां पर दलित वर्ग के बच्चे सवर्णों के पानी पीने के बाद ही पानी पीते थे और पानी भरने के बर्तनों से दूर रहते थे। बिहार में भी पीने के पानी को लेकर भेदभाव साफ़ था और लड़कियां लड़कों के पानी पीने के बाद ही हैंडपम्प से पानी पीती थीं।

शौचालय

जहां तक शौचालय का सवाल है जाति व लैंगिक भेदभाव व्याप्त था। जहां सफ़ाई कर्मचारी मौजूद थे वहां पिछड़े वर्ग की लड़कियां सफ़ाई के लिए पानी भरती थीं। कई स्कूलों में शिक्षक शौचालय में ताला लगाकर रखते थे जबकि उसकी सफ़ाई पिछड़े वर्ग की लड़कियां करती थीं।

खेलकूद व पुस्तकालय

स्कूलों में बच्चों के खेलने-कूदने की सुविधाएं नगण्य थीं और जिन जगहों पर खेलने का थोड़ा बहुत सामान मौजूद था वहां केवल 'मेधावी' लड़के उनका उपयोग कर सकते थे। इसी तरह पुस्तकालय और किताबें भी केवल शिक्षकों के लिए ही थी। आंध्र प्रदेश के एक स्कूल में किताबें बच्चे घर ले जा सकते थे पर वहां शिक्षक अनुसूचित जाति के बच्चों को किताबें घर के लिए नहीं देते थे क्योंकि उनको 'गंदा' समझा जाता था और उन्हें लगता था कि किताब 'खराब' हो जाएगी।

स्कूली गतिविधियों में भागीदारी

अध्ययन के दौरान प्रजातंत्रीय भागीदारी के कमी उभरकर आई। स्कूल के काम जैसे मैदान में झाड़ू, खाने की जगह का रख रखाव, शौचालय की सफ़ाई का बंटवारा शिक्षकों के ज़िम्मे था। अच्छे काम जैसे सुबह की प्रार्थना, अखबार पढ़ना, चाय बनाने जैसे काम शिक्षक समुदाय के चलन और अपनी व्यक्तिगत राय के अनुसार तय करते थे। इसमें जाति व लैंगिक भेदभाव साफ़ नज़र आता था। शिक्षक की पसंद के अनुसार अच्छे समझे जाने वाले काम उनके प्रिय व मेधावी बच्चों के ज़िम्मे थे व गरीब व हाशियेदार वर्गों के बच्चे कमतर काम जैसे साफ़-सफ़ाई करते थे।

सज़ा और यौन हिंसा

हालांकि हमने जाति भेदभाव और शारीरिक सज़ा के बीच कोई सीधा संबंध नहीं पाया गया परन्तु मौखिक प्रताड़ना में जाति/समुदाय संबंधी पहचान की भर्त्सना शामिल थी। ज़्यादातर लड़कियों को केवल डांटा जाता था जो समाज में महिलाओं के प्रति रवैयों का संकेतक था। आंध्र प्रदेश के तीन स्कूलों में यौन उत्पीड़न की बात की गई परन्तु माता पिता ने इस शिकायत का खंडन किया।

दोपहर के भोजन से जुड़े मानक

दोपहर का भोजन एक ऐसा विषय जिसमें न चाहते हुए भी सामाजिक व सामुदायिक पूर्वाग्रह उभरकर आए जैसे

रसोइयों की नियुक्ति, (ऐसी जाति से जिससे सभी बच्चे खाना खा सकें) बैठने की व्यवस्था, पीने के पानी व बर्तन धोने की व्यवस्था।

लगभग सभी राज्यों में सम्पन्न घरों के बच्चे स्कूल में दोपहर का खाना नहीं खाते थे। अधिकांश जगहों पर पिछड़ी जाति के रसोइए खाना पकाते थे और अनुसूचित जाति के व्यक्ति उनकी मदद करते थे। ओडिशा में लड़कियां प्रचलित मान्यताओं के कारण घर से बाहर खाना नहीं खाती थीं। राजस्थान के मीणा जाति के बच्चे अपनी जाति के रसोइए के हाथ से पकाया खाना ही खाते थे। आंध्र प्रदेश के गोंदी और लंबादा आदिवासी बच्चे खाना नहीं खाते थे क्योंकि रसोइया पिछड़ी या सवर्ण जाति का था। खाने के समय अधिकतर बच्चे अपने जाति आधारित समूहों में बैठते थे। हालांकि शिक्षक उन्हें ऐसा करने के लिए नहीं कहते थे परन्तु वे उन्हें एक साथ मिलकर खाने के लिए भी प्रोत्साहित नहीं करते थे। राजस्थान, आंध्रप्रदेश, असम राज्यों में लड़के व लड़कियां अलग-अलग बैठते थे।

बच्चों के बीच मेलजोल व उनका नज़रिया

लगभग सभी राज्यों में बच्चे 'अपने जैसे बच्चों' के साथ बैठते व खेलते थे। आंध्र प्रदेश के सभी स्कूलों में बच्चों ने कहा कि लड़कियां सफ़ाई करती हैं और लड़के कूड़ा फेंकते हैं। एक स्कूल के बच्चों ने बताया कि अनुसूचित जाति के बच्चे कुएं से पानी नहीं पी सकते। असम के बच्चों ने बताया कि शिक्षक आदिवासी बच्चों के लिए अभद्र भाषा का प्रयोग करते हैं। बिहार में बच्चों ने इस बात को माना कि हाशियेदार समुदाय के बच्चे सफ़ाई का काम करते हैं और पीने का पानी पहले सवर्ण वर्ग के बच्चे पीते हैं। मध्य प्रदेश के बच्चों के बीच अपनी जाति को लेकर चेतना थी और हाशियेदार समुदाय के बच्चों के साथ पानी को लेकर भेदभाव प्रचलित था।

क्या हम इस भेदभाव और अलगाव को खत्म कर सकते हैं?

शोध में आंध्र प्रदेश के एक स्कूल के सकारात्मक माहौल को भी उजागर किया गया है जहां सभी बच्चे एक समानता आधारित परिवेश में पढ़ रहे हैं। शिक्षक सभी बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं और सभी की समान भागीदारी को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह एक अच्छा उदाहरण है।

अपने संविधान को मार्गदर्शक मान कर शिक्षकों, प्रशासकों व समुदाय के नेताओं को समझाया जाना चाहिए कि भेदभाव एक अपराध है जिसके ख़िलाफ़ क़ानूनी कार्यवाही की जा सकती है। सभी स्कूलों में एक आचार संहिता लिखित रूप से जारी की जानी चाहिए। बच्चों के साथ एक समता आधारित समाज के निर्माण के लिए सामूहिक गतिविधियां चलाई जानी भी आवश्यक हैं। वैकल्पिक मंच, सभाओं और कार्यशालाओं के माध्यम से शिक्षकों सामुदायिक नेताओं को भेदभाव मुक्त स्कूल बनाने की ज़रूरत पर बल दिया जाना चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि हम स्कूलों में व्याप्त भागीदारी और अलगाव के मानकों को गंभीरता से देखें और हर स्तर पर काम करते हुए इन्हें बदलने का प्रयास करें। हमारे पास कोई आसान, छोटा रास्ता नहीं है और सरकार व नागरिक समाज को इस मुद्दे को पूरी गंभीरता से देखते हुए हर संदर्भ में इसे संबोधित करना होगा।

विमला रामचंद्रन *एन.सी.पी.ए., नई दिल्ली से जुड़ी हैं।*
तारामणि नाओरेम *मानव संसाधन विकास मंत्रालय की सलाहकार हैं।*
(मूल अंग्रेज़ी लेख का सारांश: जुही जैन)

लेख

प्रतिगामी राज्य

ऋतु मेनन

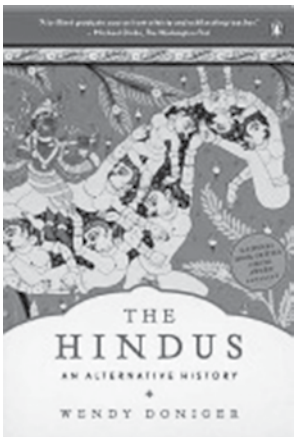

*अमरीकी लेखिका वैंडी डोनिजर की पुस्तक **'द हिन्दूज़ः ऐन ऑल्टरनेटिव हिस्ट्री'** की बाज़ार में बिक्री पर रोक लगा दी गई। कारण दिया गया कि यह किताब हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाती है। डोनिजर इस बात से बेहद नाराज़ व निराश है— उनका मानना है कि असली गुनहगार भारतीय क़ानून है।*

अभी तक इस विषय पर सार्वजनिक तौर पर कुछ कहने वाली एकमात्र राजनैतिक आवाज़ देश के राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी की है। जिन्होंने *पुस्तक मेले* का उद्घाटन करते हुए कहा कि भारत जैसी बहुल संस्कृति वाले देश में उदारता, प्रजातंत्र, बहुभाषिता और बहुजातीयता के मूल्यों की 'सुरक्षा, संरक्षण, विकास और उन्नति' बेहद ज़रूरी है और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हमारे संविधान का सबसे महत्वपूर्ण बुनियादी अधिकार है।

हालांकि वैंडी डोनिजर की किताब के संदर्भ में यह बात महज़ एक संकेतक ही है फिर भी हमारे संविधान की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उठाने वाले लोगों में से व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बरकरार रखने वाला यह इकलौता सकारात्मक बयान है। किसी भी अन्य नेता, पार्टी, कार्यकर्ता, क़ानूनविद् या हमारे सांसदों में से किसी ने भी इस मामले पर कोई टिप्पणी नहीं की है। धर्मनिरपेक्ष या साम्प्रदायिक, वामपंथी या उदारवादी सभी पक्षों की ख़ामोशी निराशाजनक है।

पिछले 10-15 वर्षों के हर एक मामले को देखें तो वैंडी डोनिजर का यह मामला एक जाने-पहचाने स्वरूप का अनुसरण करता है। कोई एक व्यक्ति तय कर देता है कि किसी विशेष धर्म का चित्रण, परम्परा या रिवाज का प्रतिनिधित्व किसी एक खास समुदाय की 'भावनाओं' को आहत कर रहा है। कुछ पिछले उदाहरण देखें तो हुसैन की कला, दीपा मेहता की फ़िल्म 'वॉटर', तस्लीमा नसरीन की आत्म-कथा आदि इसी कड़ी का हिस्सा हैं। फिर एक हजूम उमड़ता है और इस 'अपमानजनक' चित्रण के प्रदर्शन या बिक्री के लिए ज़िम्मेदार व्यक्ति या संगठन को हिंसा व तोड़-फोड़ करके डराता-धमकाता है। अक्सर व्यक्ति व समूह इस घटना से डर कर 'अपमानजनक' सामग्री को हटा लेते हैं या ख़ामोश होकर बैठ जाते हैं। उन्मादी भीड़ तितर-बितर हो जाती है। अधिकारों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए नियुक्त सरकारी एजेंसियां तमाशा देखती रहती हैं और इनमें से कोई भी व्यक्ति या समूह की सुरक्षा के लिए आगे नहीं आता।

सड़क पर होने वाली या भीड़ द्वारा की जाने वाली सेंसरशिप कोई नई बात नहीं है बल्कि कई मामलों में तो ऐसा देखा गया किसी विवादित मुद्दे पर यह राज्य की कार्यवाही से पहले ही अंजाम दी जाती है जिससे किसी भी औपचारिक प्रतिक्रिया की आवश्यकता ही न पड़े। आख़िर भीड़ की हरकत के लिए कोई भी ज़िम्मेदार नहीं होता! इसके अलावा एक व्यक्ति या पहचाने जाने वाले समूह की तरह भीड़ का कोई चेहरा नहीं होता और देखते ही देखते वह तितर-बितर भी हो जाती है। इसलिए किसी भी आपराधिक कार्यवाही के लिए भीड़ को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसके ख़िलाफ़ एफआईआर भी दर्ज नहीं की जा सकती। यह बात भीड़ जानती है, पुलिस, प्रशासन और अदालतें भी जानती हैं।

परन्तु इस परिस्थिति का सबसे डरावना और बौखला देने वाला पहलु यह है कि राज्य व उसके पक्षों ने अपनी ज़िम्मेदारी से मुंह मोड़कर उसे व्यक्तियों और समाज के कंधों पर डाल दिया है। ऐसा दो तरीक़ों से किया गया है। सबसे पहले राज्य ने हिंसक वारदातों में सुरक्षा प्रदान करना बंद कर दिया है। दूसरे, यह हमला करने वालों के ऊपर से अपराध और ज़िम्मेदारी को हटाकर खुद का बचाव करने वालों के ऊपर दायित्व को थोपकर किया गया है।

लिहाज़ा हम सबका यह दायित्व बन गया है कि हम किसी का 'अपमान' न करें और अगर ऐसा हो जाए और वे 'गैर ज़िम्मेदाराना' तरीक़े से व्यवहार करें तो हम

परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहें। राज्य इसमें हमारी कोई मदद नहीं कर सकता।

पिछले दस वर्षों के अनौपचारिक सेंसरशिप के अपने काम के दौरान मैंने इस विषय पर कई लेख लिखे हैं, भाषण दिये हैं और अदालत में केस भी दर्ज किए हैं। पर अब मुझे लगता है कि हमें अपना रुख बदलने की ज़रूरत है। हालांकि इस दबाव के चलते समझौता करने वालों के ख़िलाफ़ अपना विरोध दर्ज करना भी अहम है पर अब समय आ गया है कि हम राज्य की निष्क्रियता को गंभीरता से चुनौती देते हुए उससे जवाबदेयी की मांग करें।

उदाहरण के लिए डोनिजर मामले में अदालत ने किस आधार पर प्रार्थी के इस दावे को स्वीकारा कि उसकी किताब 'हिंदुत्व' का 'अपमान' करती है? वे किस हिंदु समुदाय का प्रतिनिधित्व कर रहे थे? किसकी भावनाओं के आहत होने का दावा कर रहे थे? हमारे देश में असंख्य ऐसे हिन्दु हैं जिनकी अहिंसा और सहनशीलता की भावनाएं (जिन्हें कट्टर हिन्दु भी 'हिन्दु' ही मानते हैं) इस याचिका के कारण उतनी ही 'अपमानित' और 'खिन्न' हुई हैं। साथ ही व्याख्यान की आज़ादी, आवाजाही और साहचर्य की आज़ादी जैसे अधिकारों के लिए हमारे सम्मान को भी ठेस पहुंची है। फिर अदालत के विचार में डीएन बत्रा का दावा और विवाद मान्य कैसे हुआ? क्यों सरकार, पुलिस और अदालत कुछ लोगों को पहुंचने वाली 'चोट' के प्रति इतना अतिसंवेदनशील हो जाती है कि समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से जानबूझकर मुंह मोड़ लेती है? क्या यह एक आक्रामक भीड़, एक प्रतिगामी राज्य का संकेतक नहीं है?

भारतीय दंड संहिता की धाराएं '153 अ' व '295 अ' का कोई भी गंभीर रूप से दुरूपयोग कर सकता है। अगर हम यह मान भी लें कि 'धार्मिक' भावनाएं 'अपमानित' हो सकती हैं तो भी किस दलील से यह एक अपराध, राज्य के ख़िलाफ़ अपराध बन जाता है? धारा '153 अ' का संबंध "विभिन्न समूहों के बीच धर्म, नस्ल, जन्म स्थान, आवास, भाषा आदि के आधार पर बैर को बढ़ावा देने" और "सद्भाव को बनाए रखने में विरोधी कार्यवाही करने" से है। धारा '295 अ' के अनुसार "किसी भी वर्ग की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने की मंशा से, उसके धर्म या धार्मिक विश्वासों को अपमानित करने के लिए की गई द्विवेषी और जानी-बूझी कार्यवाही अपराध है। भारत के नागरिकों के साथ ऐसा करने वाले किसी भी व्यक्ति को तीन साल की कैद या जुर्माना अथवा दोनों, की सज़ा का प्रावधान किया गया है। धारा '153 अ' के तहत अधिकतम पांच वर्ष की सज़ा या जुर्माना अथवा दोनों का प्रावधान है।"

इस अस्पष्ट और 'सब लोगों की धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखने' के विचार से बनाई गई व्याख्या को देखते हुए यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि कहीं भी, कोई भी यह दावा कर सकता है कि किसी साधारण सी बात या टिप्पणी से वह 'अपमानित' या 'बेइज़्ज़त' महसूस कर रहा है, किताब, पेंटिग या फ़िल्म तो बहुत दूर की बात है। तो फिर पुलिस या अदालत यह कैसे तय करेगी कि कब कोई केस दर्ज किया जाए या याचिका मंज़ूर की जाए? कौन से क़ानूनी और वैध पैमानों का उचित उपयोग करके यह जांचा जा सकता है कि 'धार्मिक भावनाएं' किस तरह आहत हुई हैं? और कौन सी दलील श्री डी.एन. बत्रा की 'धार्मिक भावनाओं' को आपकी या मेरी भावना से ऊपर रखने के लिए इस्तेमाल की जाएगी जो चोट और तकलीफ़ के बनावटी पदानुक्रम को स्थापित कर सके?

करोड़ों भारतीय अपनी इच्छा से अपने चुने हुए धर्म के तहत राहत और स्वीकृति पाते हैं और ऐसा करना उनका अपरिहार्य अधिकार है। और इसी तरह करोड़ों भारतीय नागरिक अपने व्याख्यान, सुरक्षा और साहचर्य के अपरिहार्य अधिकार की सुरक्षा की उम्मीद राज्य से करते हैं। पर अगर धार्मिक संस्थान और राज्य ही हमें निगलने के लिए मुंह बाए खड़े हों तो हम क्या करें? फिर हम कौन से न्याय की उम्मीद कर सकते हैं?

अंत में मैं यही कहना चाहूंगी कि चाहे कुछ भी हो जाए हमें विरोध और चौकसी तब तक करनी होगी जब तक हम राज्य और उसके संस्थानों की कातरता को उजागर नहीं करते और उनको हमारे हक़ों के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाते। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमसे विरोध करने की आज़ादी भी छीनी जा सकती है।

ऋतु मेनन *नारीवादी प्रकाशन ज़ुबान अनलिमिटेड, दिल्ली की संस्थापक हैं।*

आपबीती

एक 'व्यवस्थित' पागलपन

रेशमा वलिअप्पन

"तुम मुझसे पूछते हो 'कैसी हो' और मेरे जवाब का इंतज़ार नहीं करते। फिर कहते हो मैं असामाजिक और रूखी हूं।

तुम मुझसे पूछते हो 'तुम यहां क्या कर रही हो, सबके साथ अंदर क्यों नहीं हो?' मैं कहती हूं– 'अति उत्तेजना और तेज़ रोशनी से मुझे दिक्कत होती है... और' वाक्य पूरा होने से पहले ही तुम मेरे लिए दयाभाव लिए चल देते हो। और सब कहते हैं, 'मैं खुद को अभिव्यक्त नहीं कर पाती और अपनी ही दुनिया में रहती हूं।'

तुम मुझसे पूछते हो, 'तुम इसके बारे में क्या सोचती हो?' और मैं कहती हूं– 'मुझे लगता है...?' तभी कोई बीच में बोलता है, कोई दूसरी बात शुरू हो जाती है और मैं चुपचाप चली जाती हूं। फिर तुम दोनों कहते हो, 'कितनी अजीब है। हम बात कर रहे हैं और वो चली गई। बेचारी की अपनी कुछ सीमाएं हैं।'

तुम मुझसे पूछते हो, 'तुम इसे ऐसे क्यों कर रही हो मैंने तो इसे दूसरे तरीक़े से करने को कहा था न?' और मैं कहती हूं– 'क्योंकि मैं ऐसी ही हूं और मुझे तुम्हारे तरीक़े से इसे करना नहीं आता' और फिर कोई मुझे कहता है– तुम्हें खुद को संतुलन में रखना आना चाहिए।' और मैं कुछ सोचती हुई अपना सर खुजाती हूं।

तुम मुझे कहती हो, 'अगर तुम दूसरों को नहीं बताओगी कि तुम क्या सोचती और महसूस करती हो तो तुम उनसे खुद को समझने की उम्मीद कैसे कर सकती हो?' मैं बताती हूं, 'पर मैंने ऐसा किया था... किसी ने ध्यान नहीं दिया' और तुम जवाब देती हो, 'अब पुरानी बातों को छोड़ दो, तुम आगे बढ़ना सीखो।'

तुम मुझे फिर कहती हो, 'एक रुटीन बना लो, नौकरी करो'। मैं जवाब देती हूं, 'मेरा एक रुटीन है। आठ घंटे का नहीं बल्कि हर बीस मिनट का।' फिर उन्होंने कहा, 'मैं अतिसक्रिय हूं और मुझे संतुलित होने की ज़रूरत है। मैंने नौकरी भी की। कई बार। पर मुझे डर था कि कहीं वे मुझ पर लगे 'लेबल' के बारे में जान गए तो...इसलिए मैंने काम छोड़ दिया।' फिर उन्होंने कहा 'देखा ये कुछ भी लग कर नहीं करते।' इसलिए मैंने दूसरों पर निर्भर होना छोड़कर वो सब करना शुरू कर दिया जो मेरे लिए ठीक था। पर फिर तुमने कहा, 'तुम एक चीज़ ठीक से क्यों नहीं करती। इतना सब करने की क्या ज़रूरत है? मैंने जवाब दिया, 'मैं आत्मनिर्भर हूं, तुम्हें इसमें दिक्कत क्या है' और तुमने कहा कि मैं खुदगर्ज़ बन रही हूं और मुझे दूसरों के साथ समय बिताने की ज़रूरत है, न कि इतनी सारी चीज़ें एक साथ करके सच्चाई से भागने की।' इस बार मैंने ज़ोर से अपने हाथ को खरोंचा और खून निकलने लगा।

फिर उन्होंने कहा, 'तुम बार–बार ये चीज़ें नहीं कर सकतीं।' मैंने पूछा 'कौन सी चीज़ें?' उन्होंने कहा, 'तुम अपने आप को और तुमसे प्यार करने वालों को नुकसान पहुंचा रही हो।' मैंने जवाब दिया, 'अच्छा...पर कैसे?' फिर उन्होंने कहा, 'देखा, तुम्हें तो यह भी नहीं पता कि तुम क्या करती हो?' इसलिए मैं बाहर निकल आती हूं और नॉर्मल होने की कोशिश करती हूं और सब लोगों की तरह व्यवहार करती हूं। मेरी आंखों में तेज़ रोशनी से दर्द होने लगता है, सर में 'माइग्रेन' भी हुआ। मैं घबराई और फौरन वापस लौट गई। फिर मुझे सुनाई दिया, 'इसको क्या हुआ?' फिर सब बोले, 'इन लोगों को दूसरों के साथ रहना और बात करना नहीं आता।'

इस बार सब कहते हैं, 'देखा, हम सही थे। ये खुद में सिमट जाते हैं और मायूस हो जाते हैं और फिर भी नकारते रहते हैं कि उनको मदद की ज़रूरत नहीं है।' और आखिकार हममें से कोई एक आकर और तुममें से एक के साथ मारपीट कर देता है। और पूरी दुनिया कहती है– 'पैरनॉइड', मनोरोगी (साइकॉटिक) भ्रांतिमूलक (डिल्यूशनल)... इसे तो बंद करके रखने की ज़रूरत है।'

क्या ऐसा केवल मेरे ही साथ हो रहा है या फिर मेरे जैसे दूसरे लोग भी इसी पीड़ा का शिकार है? २२ वर्ष की उम्र में मुझे 'पैरनॉइड' यानी 'खंडित मनस्कता' से ग्रस्त बताया गया– यह मेरे यौवन और शिक्षा का सबसे चरम दौर था। मेरे लिए यह कोई आसान बात नहीं थी– मेरा इलाज किया गया, मैंने कई सहयोग समूहों के साथ भी वक्त बिताया, पर इस कुचक्र से बाहर नहीं आ सकी। कई दोस्तों ने हमारे परिवार के साथ मिलना–जुलना कम कर दिया। मुझे पूछना पड़ा, 'क्या मैं वाकई इतनी खराब हूं।' ये सब मेरे साथ बात क्यों नहीं करते?'

मैं बेहतर हुई। थेरेपी चिकित्सा और परामर्श ने मुझे अपनी पढ़ाई जारी रखने को प्रेरित किया– चिकित्सीय मनोविज्ञान में क्योंकि मैं अपने 'रोग' से गहन रूप से परिचित थी। पर यहां भी मुझे 'फ़िटनेस सार्टिफ़िकेट और अपने मनोचिकित्सक, परामर्शदाता, सहयोग समूह और केयरटेकर से लिखित पत्र लाने को कहा गया जिसमें साफ़ लिखा हो कि "मैं खुद के व दूसरों के लिए खतरा नहीं बनूंगी।' आज मैं पूछती हूं कितने 'नार्मल' व्यक्तियों को इस तरह की चिट्ठियां जमा करने को कहा जाता है? मैंने कभी भी किसी बाहरी व्यक्ति के साथ हिंसा नहीं की। फिर मेरे दूसरों की तरह शिक्षा पाना इतना मुश्किल क्यों बना दिया गया?"

जब मैं नौकरी ढूंढती हूं तो मेरे साथ भेदभाव किया जाता है क्योंकि सिर्फ़ एक 'गूगल' के ज़रिए पता लगाया जा सकता हैं कि "मैं कौन हूं।" मेरे लिए तो "मैं कौन हूं" का बुनियादी सवाल ही दुनिया की नज़र में "तुम क्या हो" बन गया है। व्यवस्था कहती है "तुम स्वीकार करो और अपनी कहानियां सब तक पहुंचाओ। दूसरों के साथ बांटो जिससे भेदभाव और रुढ़िवादिता से लड़ा जा सके।" पर मैं सोचती हूं व्यवस्था ने मेरी किस तरह मदद की है? संविधान द्वारा मिले बुनियादी अधिकार भी मुझे नहीं मिले हैं। एक 'लेबल' के ज़रिए मेरा वोट डालने का क़ानूनी हक छीन लिया गया है। मैं कोई अनुबंध नहीं कर सकती, सरकारी पद पर नहीं हो सकती। अपने इलाज में मेरी कोई मर्ज़ी नहीं पूछी जाती। आज अगर मेरे पास जीवकोपार्जन का कोई साधन हो तो मुझे टैक्स देना पड़ेगा। पर जब मेरे कोई क़ानूनी हक़ नहीं है तो मैं टैक्स क्यों दूं?

मैं अपनी अच्छी सेहत का श्रेय अनेक सदस्य, चिकित्सकों व साथियों को देती हूं। वे भी इसी व्यवस्था का हिस्सा है पर मैं सोचती हूं कि उनके बारे में कभी सुना या देखा क्यों नहीं जाता।

मैं आवाज़ों को सुनती हूं...और आशा करती हूं कि शायद कभी मेरी आवाज़ भी सुनी जाएगी। विकलांगता किसी को भी प्रभावित कर सकती है, मानसिक रोग या मानसिक स्वास्थ्य के मुद्दे भी। कौन से इंसान ने अपनी जीवन में गुस्सा, चोट, दर्द, तड़प, मायूसी, दु:ख, बेइंतहा खुशी, वैकल्पिक यौनिकता व जीवन शैली या मानसिक आघात का सामना नहीं किया है? हर एक व्यक्ति अपने जीवन में कभी न कभी मानसिक तनाव और संघर्ष से गुज़रता ही है। तो क्या उन्हें मनोचिकित्सीय निदान की ज़रूरत होती है? इतनी बड़ी जनसंख्या में कितने ही लोग मानसिक स्वास्थ्य के मुद्दों से जूझते होंगे? क्या इसका अर्थ यह है कि हम सबकी क़ानूनी क्षमता छीनकर उनके साथ हर संभव भेदभाव करें?

कोई सामाजिक कौशल को कैसे सीखे जब मिलने–जुलने–पढ़ने के लिए कोई इंतज़ाम न हो? इस स्वतंत्र देश में मानसिक रोगियों के कोई क़ानूनी हक़ नहीं हैं। वे कोई नौकरी नहीं कर सकते, वोट नहीं डाल सकते, अपनी काबलियत पर सवाल उठाए जाने से पहले अपनी बात नहीं कह सकते। जिन मांओं को मानसिक रूप से–'अस्वस्थ' ठहरा दिया जाए उन्हें बच्चों पर संरक्षण का हक़ नहीं मिलता। 'पागल' साबित करके उनकी सम्पति, बीमा छीना जा सकता है, तलाक़ दिया जा सकता है। कोई दूसरा तय कर देता है कि उन्हें कब और कौन से इलाज की ज़रूरत है। अगर वे अपने विचार, मूल्य या फलसफा रखें तो उनके साथ और कठोर सुलूक किया जाता है।

या तो वे शारीरिक रूप से कैद में रहते हैं या ज़िंदा मौत जीते हैं। उन पर कोई भी विश्वास नहीं करता। एक समय के दोस्त धीरे–धीरे साथ छोड़ देते हैं।

भेदभाव लगातार चलता रहता है। अकेलापन चैन का एकमात्र रास्ता है। पागलपन इन लोगों में नहीं उनके आस–पास के समाज, परिवारों, और व्यवस्था में रचा–बसा है। यही पागलपन उन्हें दोषी करार देकर अलग रखता है। और इनकी अपनी सच्चाई है इनका पागलपन जिसे कोई इंसान, क़ानून, दर्द और प्यार इनसे जुदा नहीं कर सकता। यह पागलपन इनकी गरिमा है जिसके साथ ये जीते हैं और मर जाते हैं। ”

रेशमा वलिअप्पन *चित्रकार, मार्शल आर्टिस्ट, लेखिका और मानसिक स्वास्थ्य पर कार्यरत पत्रकार हैं।*

फ़ोटोः साभार- राष्ट्रीय एकल नारी अधिकार मंच

एकल हैं , अकेली नहीं !

न्याय के लिये संगठित एकल महिलाएं

पारुल चौधरी

समाज की पितृसत्तात्मक रचना के चलते सभी महिलाएं किसी न किसी स्थिति में स्वयं को अन्याय का शिकार पाती हैं। यही कारण है कि महिलाओं के जीवन में संघर्ष की सैंकड़ों कहानियां समाई होती हैं। इन्हीं कहानियों में कुछ एक ऐसे विशेष वर्ग की हैं जो समाज के बीचों बीच रह कर भी सदियों से अदृश्य बना रहा और अपनी लड़ाईयां लड़ता रहा। हम बात कर रहें हैं 'एकल महिलाओं' की।

विवाह आज भी समाज में एक व्यापी व महत्वपूर्ण व्यवस्था है। महिलाओं के जीवन में यह आज भी सर्वाधिक आवश्यक उपलब्धि के रूप में कायम है। ऐसे में महिलाओं का ओहदा, उनका मान सम्मान उनकी वैवाहिक स्थिति से गहरा संबंध रखता है।

इस व्यवस्था में ऐसी महिलाएं जो कि विवाह जैसे संबंध में किसी पुरुष के साथ नहीं जुड़ी हैं, विशेष रूप की असमानता से गुज़रती हैं। सभी महिलाएं जो विभिन्न कारणों से विवाह या विवाह जैसे बंधन में नहीं हैं जैसे विधवा, तलाकशुदा, परित्यक्ता, 'छोड़ी गई', घर से निकाली गई, महिलाएं जिन्होंने स्वयं शादी से निकलने का निर्णय लिया, जिन्होंने शादी नहीं की, ये सभी महिलाएं एकल हैं।

2001 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार भारत की कुल महिला आबादी में से 8 प्रतिशत एकल हैं, यानी कम से कम 3.8 करोड़ महिलाएं। यह आंकड़ा विश्व के कई देशों की कुल आबादी से भी ज़्यादा है। महिलाओं का विवाह बंधन में न होना अपने आप में कोई समस्या की बात नहीं है। लेकिन जिस सामाजिक परिवेश में हम जी रहे हैं, वहां एकल होने पर महिलाओं को सामाजिक भेदभाव, आर्थिक अन्याय व असुरक्षा का सामना करना पड़ता है। मानवाधिकारों का हनन होता है और उन्हें अपने अंदर छुपे सामर्थ्य व शक्ति के विकास में असंख्य बाधाओं का सामना करना पड़ता है। एकल होना महिलाओं को समाज से ही नहीं बल्कि उनके परिवार, समुदाय व आस-पड़ोस की अन्य महिलाओं से भी अलग-थलग कर देता है। यही कारण है कि लंबे समय तक महिला आंदोलन में भी एकल महिलाओं के अनुभव व उनकी शक्ति जुड़ नहीं सके।

लेकिन आज स्थिति में कुछ परिवर्तन है, सन् 1999 में राजस्थान में एकल महिलाओं को संगठित करने की जो पहल शुरू हुई आज वह एक बड़ा रूप ले चुकी है। राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, गुजरात, झारखंड व बिहार

में एकल महिलाओं ने साथ आकर एकल महिला संगठन बनाए हैं, जिनके माध्यम से वह अपने अधिकारों को पाने के लिये संघर्षरत हैं। यह पहल अब महाराष्ट्र व पंजाब सहित कई अन्य राज्यों में भी ज़ोर पकड़ रही है। आज 80,000 से भी अधिक एकल महिलाएं संगठित हैं, और यह संख्या बढ़ती ही जा रही है। संगठित एकल महिलाएं अपने अधिकारों के लिए ही नहीं बल्कि अन्य मुहिमों के साथ जुड़ कर एक न्याय संगत समाज के लिए अपनी आवाज़ बुलंद कर रही हैं। यह संगठन की ही ताकत है कि एकल महिलाओं कि कहानियां अब गुमनाम नहीं हैं, वह अब वे अपनी स्थिति को समाज के सामने लाकर बदलाव की ओर अग्रसर हैं।

फ़ोटो: साभार- राष्ट्रीय एकल नारी अधिकार मंच

इस संघर्ष को बेहतर समझने के लिये आइए जानते हैं कि एकल महिलाओं के साथ किस प्रकार अन्याय होता है–

- शादी-ब्याह, जन्म-मरण, तीज-त्यौहारों पर निभाये जाने वाले ऐसे असंख्य रीति-रिवाज हैं जिनमें एकल महिलाओं का भाग लेना 'अपशकुन' माना जाता है। किसी दूसरे से न्योता मिलना तो दूर, अपने परिवार में इस तरह का कुछ कार्य होने पर भी एकल महिलाओं से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने श्रम व अर्थ से तो पूरा सहयोग दें, लेकिन अपना चेहरा न दिखाएं। अपने बाल-बच्चों के विवाह कार्यक्रम में भाग लेने पर भी पाबंदियां होती हैं। यह सोचना कठिन नहीं है कि खुशी के यह मौके एकल महिलाओं के लिये कितनी टीस व पीड़ा लाते हैं।
- एकल होने पर महिलाओं से अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं को अदृश्य बना लें - ऐसा कुछ भी न करें जिससे उनकी तरफ़ दूसरों का ध्यान जाए। हंसना, बनना-संवरना, अपनी इच्छाएं ज़ाहिर करना, अच्छे कपड़े व खान-पान न करना जैसे अनेक प्रकार के बंधन परम्पराओं के रूप में एकल महिलाओं पर मढ़े जाते हैं। इनका पालन न करने पर समाज में 'चरित्रहीन' कहलाना एक आम बात है।
- विवाह के बाद सामाजिक रूप से महिला के अधिकार मायके में सीमित हो जाते हैं, यह समझा जाता है कि माता-पिता की ज़िम्मेदारी पूरी हुई और अब महिला की 'देखरेख' पति व ससुराल की ज़िम्मेदारी है। ऐसे में पति या शादी के न रहने पर बहुत सी महिलाएं स्वयं को आधारहीन पाती हैं। उन पर बच्चों की ज़िम्मेदारी तो होती है पर कोई भी ऐसा संसाधन नहीं होता जिनसे वह गुज़र-बसर कर सकें। कुछ महिलाओं को ससुराल में रहने नहीं दिया जाता और बहुत सी अन्य महिलाओं पर ससुराल से निकाले जाने का डर बना रहता है। गरीब महिलाएं दिहाड़ी कर अपनी आर्थिक ज़िम्मेदारी तो उठाती हैं, लेकिन सर पर छत के लिए अक्सर सास-ससुर, जेठ-देवर, भाई-भतीजों की मोहताज हो जाती हैं।
- विधवा महिलाओं को पति की संपत्ति में अधिकार प्राप्त है लेकिन ज़मीनी स्तर पर इसमें बहुत अड़चने हैं। बड़ा बेटा होने पर उसी को मालिक समझा जाता है। अगर बच्चे न हों या छोटे हों तो ज़मीन-संपत्ति पर अधिकार कायम करना बहुत मुश्किल होता है। जेठ-देवर आदि से किसी तरह हक़ ले भी लिया जाए, तो एकल महिला को कमज़ोर जान उसकी ज़मीन-संपत्ति पर घात लगाने वाले बहुत से असामाजिक तत्व मौजूद रहते हैं।
- तलाक़शुदा या परित्यक्ता महिलाओं के आर्थिक अधिकार बिल्कुल भी सुरक्षित नहीं होते। भरण-पोषण आदि

के लिए जो क़ानूनी प्रावधान मौजूद हैं वे अधिकांश महिलाओं की पहुंच से बाहर हैं। जो महिलाएं लंबी लड़ाई के बाद कोर्ट से भरण-पोषण को आदेश ले पाती हैं, उनमें से बहुत सी महिलाओं को तय राशि नियमित रूप से नहीं मिलती है। ज़मीन संपत्ति में अधिकार स्वयं के लिए और अपने बच्चों के लिए मिल पाना भी बहुत मुश्किल होता है।

- ज़िंदगी भर मेहनत करने के बाद बहुत सी एकल महिलाएं वृद्धावस्था में अपने बच्चों पर निर्भर होती हैं, और ऐसी स्थिति में भी उनके साथ बदसलूकी व क्रूर व्यवहार असामान्य नहीं है।
- सरकारी नीतियां एकल महिला मुखिया परिवारों को नज़र में रखते हुए नहीं बनाई जातीं। इस कारण एकल महिलाओं को सरकारी योजनाओं से लाभ लेने में परेशानी होती है- जैसे खुद के नाम पर राशन कार्ड बनवाना, कृषि के लिए ऋण लेना, यहां तक कि जनगणना व अन्य सरकारी सर्वे में स्वयं को परिवार का मुखिया दर्ज करवाने में भी समस्या आती है।

संगठन के ज़रिये न्याय

समस्याओं की लंबी सूची हम देख चुके हैं, लेकिन इन सब के बावजूद एकल महिलाएं संगठित होकर आगे आई हैं, और इन बाधाओं के हल भी निकाल रही हैं।

अन्याय की शिकार एकल महिलाएं जो कहीं यह मानने लगती हैं कि यह दुःख उनके भाग्य में लिखा है, जब अपनी जैसी स्थिति से जूझ रही अन्य महिलाओं के संपर्क में आती हैं, तो यह भ्रांति दूर हो जाती है, और वह उन्हें कमज़ोर बनाने वाली सामाजिक व्यवस्था को बेहतर समझ पाती हैं। इसी समझ के साथ उन्हें संगठन के रूप में एक वैकल्पिक परिवार मिलता है, जो समाज में उनके एकाकीपन को कम करता है। संगठन में अन्य एकल बहनों के साथ वह हंस बोल सकती हैं, अपनी प्रतिभाओं का विकास कर सकती हैं, और अपनी समस्याओं का मिलकर समाधान कर सकती हैं। गांव-समाज में एक दबाव समूह के रूप में काम करते हुए एकल बहनों के साथ परिवार में हो रहे अत्याचार का विरोध करती हैं, ज़मीन सम्पत्ति के पेचीदा मामलों में भी एकल महिला समूह मिलकर रणनीति बना रहे हैं और महिलाओं के अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं। साथ ही वह खुशी के मौकों पर भी एक दूसरे के साथ खड़े रहते हैं। जहां एकल बहनें संगठित हैं वहां वह अपनी बहनों की मदद से अन्यायपूर्ण रीतिरिवाज़ तोड़ रही हैं। वह अब अपने बच्चों की शादियों में स्वयं रस्में निभाती हैं, अच्छे कपड़े पहनती हैं, गांव पंचायत में अपनी बात खुल कर रखती हैं।

अपने अधिकार लेने तक यह संघर्ष सीमित नहीं है। एक सदस्य जब खुद संगठन से जुड़ विकास करती है तो

वह अन्य एकल बहनों को भी न्याय दिलाने, उन्हें चार-दीवारी से निकलने के लिये हिम्मत देने में मदद करती है। यही नहीं, एकल महिला समूह स्थानीय स्तर पर भ्रष्टाचार, स्कूल में टीचरों के न आने, पानी, बिजली, राशन आदि के मुद्दों को भी उठाते हैं। वह केवल विधवा पेंशन ही नहीं, बल्कि वृद्धा व निःशक्त पेंशन सही दावेदारों को दिलवाने के लिये भी आगे आकर कार्य करते हैं। राजस्थान के एक समूह में अपने ज़िले के निजी अस्पताल में गैर-कानूनी रूप से गरीबों व बच्चों के खून निकाले व बेचे जाने के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और प्रशासन पर कार्यवाही के लिये दबाव डाला।

यह सब उदाहरण यह बताते हैं कि जब महिलायें स्वयं सशक्त होती हैं और संगठन की शक्ति को समझती हैं तो वह हालात से समझौता नहीं करतीं। लड़ाई बड़ी हो या छोटी, वह पीछे नहीं हटतीं। और यह प्रयास स्थानीय स्तर पर सीमित नहीं, राज्यों और राष्ट्र स्तर पर जो एकल महिला नेतृत्व उभर कर आया है, वह न्याय के लिये आवाज़ उठाने वाले अन्य संघर्षों में भी बढ़ चढ़कर हिस्सा ले रहा है। फ़िर चाहे वह आदिवासियों के जंगल-ज़मीन की लड़ाई हो, या भोजन के अधिकार की, महिलाओं के ख़िलाफ़ हो रही हिंसा की या वृद्धजनों के लिये सामाजिक सुरक्षा की।

संगठित हुई एकल बहनें यह सोचती हैं कि भारत के सभी राज्यों में एकल बहनें संगठित हों और अपने अधिकार प्राप्त कर सकें, वहीं वह एक बेहतर, न्यायसंगत समाज का ख़्वाब भी सच करना चाहती हैं।

पारुल चौधरी *सचिवालय, राष्ट्रीय एकल नारी अधिकार मंच की कार्यकर्ता हैं।*

आमने-सामने

सबके लिए भोजन
क्या हम ऐसा कर सकते हैं?

वी. रुकमणि राव

कुछ महीनों पहले भारत के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा कि यह राष्ट्रीय शर्म की बात है कि हमारे देश के 50% बच्चे कुपोषित हैं। *विश्व खाद्य संगठन* के 2005-2006 के खाद्य सुरक्षा संकेत के अनुसार 46% बच्चे अपनी उम्र के अनुसार लम्बाई में छोटे और कम वज़न के कारण 'बौने' हो गए थे तथा 33% पुरुष व 35.7% औरतें कम वज़न की समस्या से ग्रस्त थीं। उसी वर्ष किए गए *राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण* के अनुसार 15-49 वर्ष की आयु की 58% महिलाओं में अनीमिया (खून की कमी) की शिकायत पाई गयी। यह बड़ी विडम्बना है कि देश के लिए भोजन जुटाने वाले किसान खुद भुखमरी और कर्ज़ के बोझ के कारण आत्महत्या करने को बाध्य थे। पिछले दस सालों में दो लाख किसानों ने आत्महत्या की है। यहां इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि शोध अध्ययन के अनुसार हमारे देश में कृषि का 75% काम, विशेषतः बिना पानी वाले सूखे इलाकों में औरतों द्वारा किया जाता है।

आख़िर लोग भूखे क्यों हैं?

255.36 अरब टन खाद्यान का सालाना उत्पादन करने वाले हमारे देश में आख़िर लोग भूखे क्यों हैं— यह सवाल हमें खुद से ही पूछना चाहिए। यह स्पष्ट है कि सरकार की मौजूदा नीतियां इस समस्या को संबोधित करने में असमर्थ है। महज अनाज पैदा करना और उसे भंडार में रखना काफी नहीं है। भोजन की उपलब्धि होना ही भूख का इलाज नहीं है। हमें भोजन तक पहुंच भी बनानी होगी। या तो लोगों के पास अपने खाने के लिए भोजन उत्पादन का हुनर होना चाहिए या उनके पास बाज़ार से भोजन खरीदने की क्षमता हो अथवा सरकार द्वारा कम कीमत पर अनाज की बिक्री के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली की व्यवस्था होनी चाहिए। अगर हम इस बात की समीक्षा करें कि दरअसल भूखा कौन रहता है तो हम पाएंगे कि दलित, आदिवासी, भूमिहीन मज़दूर, मुसलमान काश्तकार, पलायनकर्ता श्रमिक सबसे अधिक निचली पायदान पर मौजूद होते हैं। लिहाज़ा यह तथ्य बेहद स्पष्ट है कि देश में भोजन की कमी नहीं है बल्कि सरकार की नीतियां ही भूख पैदा करने के लिए ज़िम्मेदार हैं। *खाद्य सुरक्षा अभियान* ने इस मुद्दे को सर्वोच्च न्यायालय के स्तर पर उठाया है और इस सच को उजागर किया है कि सरकार निम्न सुनिश्चित करने में असमर्थ रही है:

1. कोई भी रात को भूखे पेट न सोए।
2. माएं अपने बच्चों को भूख सहने की सीख न दें।

ऊसर ज़मीन पर लहलहाती फ़सल

3. खाद्य व्यवस्था के खराब प्रशासन के कारण अनाज का एक भी दाना बेकार न जाए।
4. दलित व आदिवासी बच्चों में कुपोषण न हो तथा कुपोषण के कारण बच्चे मौत का शिकार न बनें।
5. किसी भी महिला में खून की कमी न हो।
6. बुजुर्ग और कमज़ोर व्यक्ति अकेले मरने के लिए मजबूर न हों।
7. आंगनवाड़ी केन्द्रों में 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के योजना की व्यवस्था की जाए।
8. दलित बच्चों को गरिमा के साथ भोजन मिले तथा दलित व आदिवासी वर्ग के रसोइयों की नियुक्ति में किसी भी तरह का भेदभाव न बरता जाए।
9. बाज़ार में उचित दर पर भोजन उपलब्ध हो।

हालांकि सरकार अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करने में असफल रही है परन्तु नागरिक समाज संगठनों की मदद से दलित महिलाओं ने एक अनोखी अगुवाई की है। इसका एक उदाहरण यहां प्रस्तुत है:-

भूख से बचाव के लिए आगे का रास्ता

आंध्र प्रदेश की *डेकन डेवलपमेंट सोसाइटी* ने 32 गांवों की 3000 दलित महिलाओं के साथ मिलकर घरेलू खाद्य सुरक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए औरतों के फ़ैसले की क्षमता का विकास किया जिससे वे यह तय कर सकें कि ज़मीन पर क्या उगाया जाए और कैसे। *जवाहर रोज़गार योजना* के विशेष कार्यक्रम की धनराशि की मदद से दक्खिन पठार क्षेत्र की ऊसर और निम्न उपजाऊ भूमि का विकास किया गया। ज़मीन की मिल्कियत वाले पुरुष किसानों से सलाह करने के बाद उनकी रज़ामंदी को क़ानूनी रूप से दर्ज किया गया और एक घरेलू खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम शुरू किया गया जिसमें स्थानीय ज्वार 'सोरगम' और अन्य खाद्य फ़सलों की खेती की गई। तीन वर्ष की अवधि वाला 4200 का कर्ज किश्तों में किसानों को इस खेती के लिए मुहैया कराया गया जिसका इस्तेमाल निम्न के लिए किया गया:

1. खाद्य फ़सल पैदा करने के लिए ऊसर ज़मीन को जोतने और खेती करने के लिए।

'सोरगम' ज्वार की रोटी

2. जैविक खाद की मदद से ज़मीन के पुनरुत्पादन के लिए।
3. वर्मी काम्पॉस्टिंग (केंचुओं की मदद से खाद बनाना)।
4. मिट्टी व नमी संरक्षण के लिए।
5. जैव-विविधता पर ज़ोर देते हुए बीज संरक्षण के लिए (89 प्रकार की खाद्य फ़सल के बीज)।

इस कार्यक्रम के तहत गांव के गरीब परिवारों की पहचान की गई और भोजन की कमी के दौरान स्थानीय ज्वार 'सोरगम' की उपलब्धि के लिए वैकल्पिक सार्वजनिक वितरण प्रणाली की स्थापना की गई।

एक साथ मिलकर सामूहिक स्तर पर काम करने से औरतों ने महत्वपूर्ण परिणाम हासिल किए। हर गांव में 100 औरतों का एक समूह, जिनमें पांच महिलाएं नेतृत्व भूमिका में थीं कार्यरत था। इस प्रक्रिया से उगाया गया 'सोरगम' ज्वार ग्रामीण स्तर के एक 'ग्रेन बैंक' (अनाज कोष) में रखा गया जिसे अनाज की कमी के दौरान कम कीमत पर गरीब परिवारों को बेचा जाता है। गरीब परिवारों को पहचानने के लिए गांव के स्तर पर एक खुली प्रक्रिया चलाई जाती है जिसमें परिवार की आय के अनुसार महिलाएं खुद गरीब परिवारों की सूची तैयार करती हैं।

पहले ज़मीन ऊसर पड़ी रहती थी क्योंकि परिवार के पास अनाज उगाने के लिए ज़रूरी निवेश मुहैया नहीं था या फिर पुरुष बड़े किसानों की देखा-देखी कर्जा लेकर गन्ने और अन्य नकदी फ़सल की खेती करते थे। परन्तु इस कार्यक्रम की सहायता से दलित महिलाओं ने निम्न सकारात्मक परिणाम हासिल किए हैं:

1. खाद्य सुरक्षा
2. पोषण सुरक्षा
3. ईंधन सुरक्षा (खेती से निकले कूड़े का इस्तेमाल करके)
4. आजीविका सुरक्षा
5. पारिस्थितिकीय सुरक्षा— ऊसर ज़मीन की खेती से मिट्टी की उवर्रता बढ़ी।

आंध्र प्रदेश के अन्य ज़िलों व क्षेत्रों में भी इस तरह के कार्यक्रमों की शुरुआत की गई है। समस्त देश में भी इस तरह के परीक्षण शुरू किए गए हैं।

वे ग्रामीण समुदाय जिनके पास अपनी कुछ ज़मीन मौजूद है वे अपने खाने के लिए अनाज उगा सकते हैं परन्तु शहरी समुदायों को अपने अधिकारों तक पहुंच बढ़ाने के तरीके तलाशने होंगे। सामुदायिक स्तर पर कुछ इस तरह के प्रयास किए जा सकते हैं:

1. यह सुनिश्चित करें कि आपके पड़ौस का समेकित बाल विकास केंद्र ठीक से काम कर रहा है और यहां पोषणयुक्त भोजन उपलब्ध है। इसके लिए आवश्यक है कि इलाके की मातृ समिति नियमित रूप से मिलकर भोजन की गुणवत्ता की जांच करें और सुनिचित करें कि बच्चे खाना खा रहे हैं। अक्सर देखा गया है कि बच्चों के हिस्से का पोषणयुक्त आहार दूधारू जानवरों को उनके दूध का उत्पादन बढ़ाने के लिए खिलाया जा रहा है। मांओं को ध्यान देना चाहिए कि केंद्र में अच्छा व पोषक भोजन दिया जाए।
2. स्कूलों में दोपहर का भोजनः सर्वोच्च न्यायालय के दिशा निर्देशों के अनुसार सभी सरकारी स्कूलों में दोपहर का भोजन दिया जाना चाहिए। स्कूल के प्रशासन को खाने की गुणवत्ता पर ध्यान देना होगा। आजकल हफ़्ते में दो बार अंडे भी दिए जाने का आदेश है। समुदाय के सदस्यों की मांगों के बिना इन कार्यक्रमों का सुचारू कार्यान्वयन मुश्किल है।
3. सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत कम कीमत का राशन भी मुहैया कराया है। भ्रष्टाचार के कारण यह अनाज गरीबों तक नहीं पहुंचता। निगरानी समितियों की मदद से यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि दुकानदार उपलब्ध अनाज व उनकी विक्रय दर स्पष्ट रूप से दुकान के बाहर लगाकर रखे।
4. शहरी समुदाय सामूहिक तौर पर थोक से अच्छा व सस्ता अनाज भी खरीद सकते हैं।

'सोरगम' ज्वार की फसल

अंतर्राष्ट्रीय शोषण

एक ओर समुदाय अपने भोजन के अधिकार तक पहुंच सुनिश्चित करने व भूख को कम करने के लिए संघर्षरत है वहीं अंतर्राष्ट्रीय दबाव के कारण लोगों के खाद्य अधिकार उनसे छीने जा रहे हैं। *विश्व व्यापार संगठन* इस बात का लगातार दबाव बना रहा है कि भारत अपने बाज़ार को खाद्य फ़सल के आयत-निर्यात के लिए खोल दे। इससे हमारा खाद्य उत्पादन असंतुलित होगा और मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाएगी। बहुराष्ट्रीय बीज उद्योग जैसे *मॉनसेंटो* अनुवांशिक बीज और खाद्य फ़सलों को प्रोत्साहन देकर किसानों के हाथ से नियंत्रण छीन रहा है। इसका हमारे स्वास्थ्य पर भी परोक्ष प्रभाव पड़ रहा है। आम नागरिकों की हैसियत से हमें इसके ख़िलाफ़ संघर्ष करना होगा। महिला व जन आंदोलन दोनों ही बीज, पानी, जंगल और भूमि के निजीकरण का विरोध कर रहे हैं। हमें अपना भोजन खुद पैदा करने और अपने लोगों का पेट भरने के लिए संसाधन चाहिए। हमें एकजुट होकर भूख को जड़ से उखाड़ फ़ेंकने और सबके लिए भोजन सुनिश्चित करने के लिए संघर्ष जारी रखना होगा।

रुकमणि राव *ग्राम्या संदर्भ केंद्र से जुड़ी नारीवादी कार्यकर्ता हैं।*

कहानी

रूपसी मन्ना

महाश्वेता देवी

पहले वह कहा करती थी— मेरा नाम उपासी मन्ना है।

अब कहती— मेरा नाम रूपसी मन्ना है।

पहले, चुन्नट डालकर साड़ी पहनने में मुश्किल होती थी।

अब कोई असुविधा नहीं होती।

पहले, वह भीगे बाल सुखाकर, जतन से जूड़ा बांधने में काफी देर लगाती थी।

अब कसकर एक चोटी बांध लेती है, बस।

पहले उसका रंग खासा मैला था।

अब वह खुद समझ गयी है कि शहर कलकत्ता का पानी, तंग-बंद कमरे में रहते हुए, उसका रंग काफी उजला गया है।

जब आयी थी, भांय-भांय रोती रहती थी।

अब बिल्कुल नहीं रोती।

पहले, बातचीत में अक्खड़पन था।

अब गंवई गंध धुल-पुंछ गयी है।

पहले, अपने मायके-ससुराल, पति-सास के बारे में, जब बतियाने लगती, तो धाराप्रवाह बोलती ही चली जाती थी।

अब कम बात करती है। चाल-ढाल, बोल-चाल भी काफी बदल गयी है। इस हद तक बदल गयी है कि उसका भाई भी उसकी इज़्ज़त करता है।

"तू न, हेवी बदल गयी है, री दिदिया।"

रूपसी हंस पड़ी, "सोलह बरस की उम्र में यहां दाखिल हुई, अब इकतीस बरस हो गए। बदलूंगी नहीं?"

हां, सोलह बरस की उम्र में, उसने उस जेल में कदम रखा था।

वैसे, इस तरह की आजीवन सज़ा होनी तो नहीं चाहिए। सोलह साल यानी नाबालिग उम्र। लेकिन रूपसी मन्ना आख़िर कर भी क्या सकती थी, अगर पुलिस उसकी उम्र, उन्नीस साल दर्ज करे?

उसका बापू रो-रोकर अरज करता रहा, "किसका दोष, किसके सिर मढ़ दिया गया। मेरी बेटी भला ऐसा काम, क्या कर सकती है?"

सरकारी वकील भी निरुपाय था। बिल्कुल लाचार। "पुलिस ने केस दिया है। मैं तो सिर्फ़ वकील खड़ा किया गया हूं।"

पुलिस ने तो साफ़-साफ़ कहा, "रूपसी ने ही अपनी विधवा जेठानी, सती रानी का खून करने की धमकी दी। उसे काट डालेगी... बदचलन औरत, वेश्या.... वगैरह-वगैरह की धमकी देते हुए, नील पूजा के पहले, मुहल्ले भर की नींद में खलल डालती हुई, चीखती-चिल्लाती रही थी।"

मुहल्ले के शरीफ़ बाशिन्दों ने वह चीख-चिल्लाहट सुनी थी।

रूपसी मन्ना के शौहर, जतन मन्ना, सास, नलिनी मन्ना, अड़ोसी-पड़ोसी सभी लोगों ने सती रानी की बुलन्द आवाज़ सुनी थी।

"तेरा भतार मेरे पास आता ही काहे है? देवर पर तो उमिर की गर्मी चढ़ी है। मेरे पास आते-जाते, कितनी ही बार तो बरज दिया कि अब ईहां मत आया करो। मत आया करो ईहां। कभी मत आना। बहुरिया ले आये, अब रहो उसके पास। अब, तेरा भतार न सुने, तो हम का करें?"

सास रो-रोकर, वकील के आगे बयान करती रही कि उसे कुछ नहीं मालूम। "उस सांझ, छोटकी रसोई में लगी थी, चिंगड़ी-मछरी की भुजिया और पोस्ता-दाल रांधा था। सबने खाया। लेकिन, बड़की मुरमुरे लेकर, अपनी कोठरिया में जा समायी। कही गयी, ऊ लइया चबाकर, पानी पी लेगी, अरे, बिल्कुल गदरायी हुई, चुस्त अउरत है, वकील बाबू। कउन कहेगा कि ऊ दू-दू बिटिया ब्याह कर, सास बन चुकी है? सो, सुबह-सबेरे जतन ही तो चिल्लाया। खूब-खूब चिल्लाया, बाबू, मोर तो छाती धड़-धड़ धड़धड़ाने लगी। डर के मारे, हमार जान ही निकल गयी। कइसे जोर-जोर से चिल्लाय रहा था जतन। चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था। बीच का दरवज्जा खुला पड़ा है, अउर बड़की की गर्दन उतार कर, उपासी कोठरिया में सोयी पड़ी है। उसके बाद तो.."

उसकी सास ने बड़ी-बड़ी बतकही की, मगर उसकी ज़ुबान से एक बार भी नहीं फूटा कि ऐसा काम रूपसी नहीं कर सकती। वो तो और ही राग अलापती रही।

"अब तो जो होना था, हुई गवा। अब इसको तो छोड़ दीजिए, वकील बाबू जो मर गयी, वह तो अब नहीं लौटेगी न? गिरस्ती सत्तानास हुई जायेगी। ओका छोड़ दें, साहब।"

लेकिन उसने एक बार भी नहीं कहा कि रूपसी ऐसा काम करे, यह नामुमकिन है।

जतन तो, खैर, सुबह से ही फूट-फूटकर रोये जा रहा था।

वह छाती पीट-पीटकर पूछता रहा, "अइस काम तूने काहे किया? बरदास नहीं हो रहा था, तो मोका कहा होता। तोका लै के हम कहीं और चले जाते। इतना बड़ा कांड कर बैठी तू? अब तोरा का करूं मैं?"

उस जमाने में रूपसी बिल्कुल चीनी चुतुल जैसी। पानी पड़ते ही गल जाये। मानो मोम हो, ताप लगते ही पिघल जाये। उस जमाने में रूपसी की नींद भी बिल्कुल कुभकर्ण जैसी।

भयंकर चीख-पुकार, शोरगुल सुनकर, उसकी नींद टूटी। वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। उसके बाद तो सारा कुछ दुःस्वप्न। वह चौकी पर सोयी हुई। उसके और उसकी जेठानी की कोठरी के बीच की सांकल खुली हुई थी। फूस-पत्ते काटने की धारदार कटार, उसी के हाथों के करीब पड़ी हुई। उसकी साड़ी पर खून-ही-खून।

रूपसी रोयी नहीं। कहते हैं, वह एकदम से चीख उठी थी, "इत्ता खून कइसे लागा है, जी, मेरी धोती पर? कहां से लगा?"

"ई काम तून काहे किया, बोउ रे?" जतन रोता गाता रहा।

उसका सवाल सुनकर, रूपसी ने अचकचाकर, पूछा, "काउन-सा काम?" दरवाज़े पर भीड़ ही भीड़। असंख्य चेहरे, मगर स्तब्ध, ख़ामोश।

रूपसी चौकी पर से नीचे उतर आयी। वह एक-एक कदम नापती हुई आगे बढ़ी। उसके बाद, सब कुछ, मानो खौफ़नाक सपना... मानो किसी मेले में देखे गये, किसी भयंकर जाई का आतंक! जेठानी ज़मीन पर चित्त पड़ी थी, लेकिन उसका सिर अजीब ढंग से ढलका हुआ! खून! चारों तरफ खून ही खून। रूपसी बेहोश हो गयी।

बेहोश हो जाने के बावजूद, थोड़ी देर बाद, उसे होश में तो आना ही था।

जतन के ही रिश्ते की फुफेरी बहन, माला की आवाज़, उसके कानों में पड़ी, "जतू दा की चीख सुनकर ही तो, हम सब आ पहुंचे, सुना कि छोटी भौजी, बड़ी भौजी का कत्ल करके, बेखबर सो रही है। जतू दा ने क्या अपनी आंखों से देखा? अरे, लोग चाहे जो कहें, इस घर का किस्सा किसी से छिपा नहीं है।"

रूपसी को ये भी होश नहीं था कि उसके सिर पर आंचल नदारद है। बदन पर साड़ी भी बिल्कुल ढीली-ढीली, अस्त-व्यस्त। वह एकटक जतन को घूरे जा रही थी।

माला के बापू ने कहा, "क्या, भइया, जतू, छः को नौ, नौ को छः बना रहे हो तुम? मैं पूछता हूं, तेरा और बड़ी बहू का लटर-पटर कौन नहीं जानता था? ब्याह से पहले, तूने उसके लिए कनफूल नहीं गढ़ा दिया था? उसे पहनकर, बड़ी बहू इतराती नहीं फिरी थी?"

जतन की मां एकदम से बिफर पड़ी, "हाय-हाय नाते-रिश्तेदार कैसे दुसमन होते हैं? सुनौ इनकी बात! लटपट जब था, तब था। विवाह से पहिले ई सब आम बात... बियाह के बाद से तो मेरा जतू, बहू को अपनी आंखिन में बसाये रखता था।"

"हां-हां, पता है। सब पता है। मेरे पिछवाड़े, कला-गाछ की झुरमुट तले, रोज ही दोनों में खुसफुस बात होती रहती थी। बड़ी बहू का चरित्तर ऐसा था, तभी तो दोनों बेटियों का ब्याह, मामा के घर से हुआ।"

"यह तुम क्या कर रही हो, बुआ?"

"कुछ नहीं, बेटा, हां, उपासी ने जेठानी को टुकड़े-टुकड़े काट भी डाले और निश्चित, सोती भी रही, यह तो बड़े ताज्जुब की बात है न, जतू? उसी वक्त तुम कहां थे, भइया?"

ऐसे में माला के बापू गरज उठे, "जाओ, घर जाओ, बकू की मां। माला, ले जा, अपनी माय को घर ले जा। बात से बात बढ़ जाती है। बातों से ही लंका-कांड मच जाता है। चलो, घर जाओ—"

तभी किसी ने कहा, "अरे, छोटी बहू के मायके वालों को भी खबर दे दो—"

सास ने रोते-रोते कहा, "वे लोग अपने घर हों, तब न? सब तो तीरथ करने गये हैं, मंडलेश्वर! जाने से पहले, बेटी को देखने आए थे। कितना समझा-बुझाकर गये थे उसे। हाय-हाय, मेरी छाती में क्या जो हुई रहा है...।"

"तुम्हीं तो हो बर्बादी की जड़? जतू दा जवानी से ही, बड़ी बहू की मुहब्बत में... उनका ब्याह करके, तुमने किसी भलेमानस की बेटी की जिन्दगी क्यों तबाह की?" माला ने झिड़क दिया।

ये तमाम बातें तो बहुत बाद की थीं। इससे पहले, उसे वक्त ही कहां मिला? वह तो, काफी दूर चले आने... और काफी दिनों तक सोचते रहने के बाद, अहिस्ते-आहिस्ते उसे सारा किस्सा समझ में आया। जैसे-जैसे उसे सारी कहानी समझ में आयी, उतनी ही वह बदलती गयी।

हां, बापू-मां, दीदी-जीजा, दीदी की बड़ी ननद, सभी, उन दिनों रूपसी के छोटे भाई की मनौती की पूजा देने, मंडलेश्वर गए हुए थे। जाने से पहले, उसके बापू चिउड़ा, केला, हंडिया भर रसगुल्ला लेकर, बेटी से मिलने भी आये।

बड़ी बहू ने कुटिल हंसी हंसते हुए व्यंग्य भी किया, "मंडलेश्वर जाने-रहने और पूजा देने में, कुल तीन दिन ही तो लगते हैं। मंडलेश्वर आख़िर है ही कितनी दूर, जो बेटी से मिलने चले आये? सब तेरी तकदीर है, री छोरी! मां-बाप ने तो कभी तेरी सुधि ही नहीं ली, कभी पलटकर देखने भी नहीं आये।"

सास ने एकदम से झिड़क दिया, "तुम तो कपड़े-लत्ते धोने जा रही थी न? सो, घाट का रास्ता लो न, बहू।"

बाद में रूपसी को ख्याल आया, जेठानी को वाकई अपना बोरिया-बिस्तर, चटाई धोने-सुखाने की अक्सर झख चढ़ी रहती थी। बिस्तर के साथ-साथ साड़ी-साया-ब्लाउज़, सारा कुछ, अक्सर ही धोती-सुखाती रहती थी। सब कुछ उजला-धुला, साफ़ नज़र आता था।

एक ही दालान में तीन कमरे। बड़ा कमरा बड़ी बहू के पास, बीच का कमरा छोटी बहू के पास और छोटा कमरा, सास के पास! हर कमरे में तख्त, खूंटी, दरवाज़े की एक तरफ, उठी हुई दीवार!

हां, ये सम्पन्न लोग थे। काफी सारी ज़मीन, पोखर, नारियल के चार-पांच पेड़, यह सब उसके हिस्से में आया था। बड़ी बहू के पास, निजी दो कट्ठा ज़मीन भी थी, जिस पर लौकी, पोई, अरबी, मूली, मिर्च की खेती होती थी। कुछ बेच दिया जाता, कुछ खाने-पीने में खप जाता।

रूपसी के करीब बैठे-बैठे, उसके बापू, उसके सिर पर हाथ फेरते हुए समझाते रहे, "मैंने सब देख-सुनकर, तुझे यहां ब्याहा था, बिटिया! जीवन कमबख़्त ने सारी बातें हमें नहीं बतायी थीं। बाद में, सुनने में आया... वो जो उसका बछड़ा, हमारे तालाब में डूब गया था, उसने उसी का बदला चुकाया था। ख़ैर जाने दो। मंडलेश्वर बड़े जाग्रत देवता हैं। तेरे लिए भी पूजा दे आऊंगा, बिटिया! तुझे वहां की ताबीज भी ला दूंगा। अभी दुःख उठा रही है, मगर बाद में सुख-ही-सुख होगा।"

रूपसी ने भी सिर हिलाकर कहा, "हां, बापू, तुम ठीक कहते हो। सुख भी जरूर आयेगा।"

"हां, देख लेना, जतन तेरे पीछे पागल बना घूमेगा।"

"हां, बापू!"

सास भी समधी के लिए आ खड़ी हुई। उन्हें पान-जर्दा पेश करते हुए, उसकी तारीफ भी की थी, "बड़ी लक्ष्मी-बेटी है तुम्हारी, समधी! उसकी फिकिर बिल्कुल ना करो।"

"बड़े लाड़ से पाला है, समधिन!"

सास ने भी कोई साज़िश रचने की मुद्रा में, अपनी आवाज़, बेहद धीमी करते हुए, फुसफुसाकर कहा, "अब कहने को तो दुस्समन नाते-रिश्तेदार तरह-तरह की बातें बनाते हैं। वह सब झूठ के अलावा, और कुछ नहीं। तीरथ के बाद, आप सीधे अपने घर जायेंगे, मुझे मालूम है। बाद में ही सही, यहां भी आइएगा ज़रूर। यहां का गाजन-मेला देख जायें।"

"बैसाख के महीने में, उसे लेने आऊंगा, समधिन! कुछ दिनों, उसे मेरे पास भी रहने दें। ब्याह के बाद से वह गयी भी नहीं..."

"देखो, जतू अगर उसे छोड़े, तब न! मेरा भी यही हाल है कि बहुरिया के हाथ के पके-पकाये खाने के अलावा एक कौर भी नहीं खाया जाता। अरे, पूरे मुहल्ले भर में, उसका जितना नाम-यश है। हर कोई कहता है, सचमुच बहू जैसी बहू लायी हो तुम।" अचानक उन्होंने आवाज़ और धीमी करते हुए कहा कि उन्हें बड़ी बहू से खासा खौफ़ था। अपने हट्टे-कट्टे, जवान-जहान, रूखे-निर्मम छोटे बेटे से भी डर लगता था।

रूपसी के बापू मिठाई खाकर, पानी पीकर चले गये।

रूपसी के लिए, वह ताबीज़ पहनने का मौका नहीं आया। उससे पहले ही सारा कुछ तहस-नहस हो गया। उस दिन क्या-क्या हुआ था, अब वह सब याद करते हुए, मानो अंधेरा छा जाता है। यात्रा-उत्सव के मैदान में जेनरेटर तक बन्द हो गया था। कहीं, कोई चिराग नहीं जला। चारों तरफ घोर काला अंधेरा...

अगर वह जेल न जाती और वहीं वेलफेयर अफ़सर दीदी से बातचीत न हुई होती, रूपसी को इतना सब समझ में भी नहीं आता।

बाद में, धीरे-धीरे उसकी समझ आया कि आसपास कोई दूसरी औरत नहीं मिली उन्हें। जतन से बड़ी बहू की इश्कबाज़ी के बारे में सभी जानते थे। इस बारे में काफी बदनामी... काफी कलह भी हो चुका था।

...दोनों बेटियों को मायके में सहेजकर, बड़ी बहू पूरे दर्प के साथ वापस लौट आयी।

...बेवा भौजी ने लौटकर, सास को सुनाकर, तीर चलाया, "तुम्हारा बेटा ही, मेरे हाथ-पैर जोड़कर मुझे वापस ले आया, समझीं?"

रूपसी की बातें सुनकर, चन्नमा ने राय दी, "देवर-भाभी में इस तरह का रिश्ता हो भी सकता है, बिटिया। उधर लोक दिखावे के लिए, ऐसे मरद, ब्याह भी करते हैं। यह कोई नई बात है क्या?"

हां, मुमकिन है, यह नई बात न हो। लेकिन, रूपसी को इसका अहसास ही नहीं हुआ।

जेठानी के साथ शौहर की लिपटा-झपटी, खींचातान, रात को उसके बिस्तर पर बैठे-बैठे, उन दोनों को रसीले रसरंग में डूबे देख-देखकर, उसके मन को खटका ज़रूर लगा था।

हादसे के दो दिन पहले, उसने जतन से कहा भी था, "चैत-बैसाख मैं नहीं जानती, बस, मुझे कातलाहाटी छोड़ आओ।"

"क्यों? मैं क्या तेरे पास नहीं रहता?"

"कब आते हो, मुझे क्या खबर? दिन भर हड्डियां तोड़ती हूं, बिस्तर पर पड़ते ही, नींद धर दबोचती है।"

जतन ने हड्डी थामकर कहा, "अरी, भैंस की तरह पड़ी-पड़ी सोती रहती है, तभी तो मैं उठकर, कभी-कभार पान-वान खाने चला जाता हूं।"

"दरवाज़े पर सांकल क्यों नहीं लगाते?"

"लगवा लूंगा! लगवा लूंगा!"

जतन कभी हांक-डाक नहीं लगता था। रूखी या ऊंची आवाज़ में भी बात नहीं करता था। वह जब चाहता, रूपसी को अपनी मीठी-नरम बातों से पिघला लेता। बाद में, रूपसी को अहसास हुआ कि जतन महज़ नाटक करता था। नाटकबाज़ी उसके लिए आसान थी, क्योंकि वह यात्रा-नौटंकी वगैरह में पार्ट जो लिया करता था। पौराणिक, सामाजिक, जाने कितनी-कितनी तरह की नौटंकियां।

हादसे के दो दिन पहले, जाने किसी वजह से, देवर-भाभी में जमकर झगड़ा हुआ था।

बाद में, जतन ने रूपसी से कहा, "सरबनासी औरत है! कंकाला! उम्र तो, समझो, बत्तीस की हो चुकी। मुझसे बड़ी है। बेटियों को तो मामा लोगों ने ब्याह दिया। बेटियों की उम्र भी अठारह और सोलह हो चुकी है। कितना समझाया, अब तो शांत हो जा, चंडी।"

"सोहल यानी मेरी उम्र की?"

"बे-शक!"

"छिः छिः छिः!"

"हां, छिः छिः की तो बात ही है। मानता हूं कि ताली एक हाथ से नहीं बजती। लेकिन, अब तुम आ गयी हो। अब तो संभलकर चलना चाहिए। लेकिन, उसकी बुद्धि ही नहीं खुलती।"

जतन क्या सच बोल रहा था?

मुमकिन है, देवर-भाभी में कोई बात हुई हो। तभी तो उसकी जेठानी, सुबह से ही फन काढ़े, फुत्कारती फिर रही थी।

"अरी, ओ, तू जो सोच रही है न, ऊ नाहीं होवे का। ऊ बन्दे को, हमने अपने पांव में जंजीर बनाकर डाल रखी है। उसका दिल, तुझ पर कभी न आयेगा..."

"छिः छिः तुम्हें लाज नहीं आती?"

"लाज की का बात है? लाज आये मेरे दुस्मन को। इतनी बड़ी हिम्मत? अब मुझे, ऊ मरद कहता है, संभलकर रहना हो रहो, वर्ना यहां से दफा हो।"

"देखो, उमर में मैं तुम्हारी बेटी बराबर हूं, इसका भी होश है तुम्हें?"

"हमका दोस देने से फायदा? ऊ मरद तो मेर तू-तू कुत्ता है। अगर सच्ची दम है तो उसे बांधकर रख अपने पास! वैसे, ऊ मनुख तोरे काबू में नाय आने वाला! तू हमसे नाय जीत सकेगी, मुंह की खायेगी, मुंह की! अरे भला बालू की सांकल लगाने से, कहीं बाढ़ रुकत है?"

बालू की सांकल! शब्द का दुहरा अर्थ था। जतन उसी दिन सांकल खरीद लाया था और अब मिस्त्री बुलाने निकला था। बस,

इसी बात से, सैकड़ों बात निकल आयी और बात बढ़ गयी। उस ज़माने में रूपसी की भी छाती में दमखम था, मन में साहस भी! हज़ार पाप करने के बाद, पति सुपथ लौटना चाहता था, वह औरत ही ऐसा नहीं होने दे रही थी।

...उसी दमखम से रूपसी ने बुलंद आवाज़ में जेठानी को शाप दिया था। कंगली औरत! बदचलन कहीं की! निर्लज्ज! दो-दो बेटियों के कच्चे-बच्चे हो गये। नाती-नातियों की नानी बन गयी, मगर नायलॉन पहने, अंग-अंग झलकाती घूमती है! रंडी जैसी चाल-ढाल!

देवरानी के मुंह पर खरी-खोटी सुनाते हुए, जेठानी को जैसे कोई नया ख़्याल सूझ गया।

वह गला फाड़-फाड़ कर दुबारा चिल्ला उठी, "रूपसी सात-सात थप्पड़ खाकर भी उफ़ तक नाहीं करती। देख ल्यो। आंखिन के सामने ही, फटे बांस जैसी चिंचियाय रही है..." हाथ लगा मौका, उसने भी जाने नहीं दिया, "तेरा भतार आता काहे है भला, इतने बरस से? हम ठहरी अबला नारी...कितनी बार तो बरज दिया..."

इस महा-घमासान की चीख-चिल्लाहट के बारे में सभी लोगों ने बयान दिया।

सास ने सूखी आवाज़ में कहा, "किस बात पर इतना घमासान जूतम-पैजार हुआ था, हमका नहीं मालूम, बाबू।"

उसके बाद, वह सर्वनाशी सुबह! थाना-पुलिस! भीड़! वैनरिक्शा पर, पॉलिथिन में लिपटी जेठानी! दूसरे वैनरिक्शे पर रूपसी, जतन, सास और पुलिस।

पुलिस ने कहा, "पूछताछ के लिए ले जा रहे हैं, और कोई बात नहीं।"

काफी देर बाद, रूपसी ने मन-ही-मन तय किया, वह जतन से ज़रूर पूछेगी, "छोटकी बहू, बड़की बहू की बोटी-बोटी करके, मजे से सो रही है—" बार-बार, चिल्ला- चिल्लाकर यह क्यों रट रहे थे? मैंने तो कत्ल किया नहीं।

लेकिन जतन मिला ही नहीं। पुलिस के सामने, उसे जो-जो बयान दिया था, उसमें उसी का नुकसान हुआ है, उस वक्त तो उसे इतनी भी समझ नहीं थी।

हां, उसकी जेठानी और पति में गलत संबंध था। हां, उसने अड़ोस-पड़ोस के लोगों से भी सुना है, खुद अपनी आंखों से भी देखा। जेठानी ने भी यही बात डंके की चोट पर ज़ाहिर की थी।

हां, उसने भी उसे खरी-खोटी सुनायी।

नहीं, सांकल उसने नहीं खोली।

जेठानी के गहने-जेवर? उसने कभी नहीं देखा।

हां, सारी बातें उसका पति जानता था।

इधर रूपसी का बापू, बेचारा सिर पीटते-पीटते बेहाल था, "मेरी बेटी की उमिर उन्नीस नहीं है, बाबू, मेरी बेटी तो बड़ी शांत है। वह ई काम नहीं कर सकती, वकील बाबू। अगर मुझे पता होता कि दामाद बदचलन है तो क्या मैं...? बियाह में हमने तीन तोले चांदी, एक तोला सोना दिया था, बाबू।"

रूपसी के जीजा ने सूखी-सूखी आवाज़ में कहा, "कोई फायदा नहीं होगा, सुन रहे हैं? जतन ने बिल्कुल जतन से जाल बिछाया है। वहां उसने भर-भर मुट्ठी मोटी रकम दिखलायी है?"

अड़ोस-पड़ोस?

भला ऐसे मामले में, कोई गवाही देता है?

"हे भगवान्! यह कैसा इंसाफ़ है? लगता है वह बड़ी बहू को अपने कन्धे से उतारना चाहता था, साथ में उपासी को भी। थोड़े दिनों में सारा मामला, बेहद संकरे दायरे में हलचल मचाए रहा। सरकार की तरफ से रूपसी को भी वकील दिया गया, क्योंकि उसके बापू के पास, इतनी दौलत नहीं थी कि बेटी के लिए वह रोज़-रोज़ वकील खड़ा कर सके। मामले-मुकदमे तो अक्सर साल-दो-साल तक जारी रहते हैं। शुरू-शुरू में रूपसी बेभाव बोलती रहती थी, मानो उसे विश्वास ही नहीं था कि उसके नाम कत्ल का मामला साबित भी हो सकता है।"

चन्नना उम्र में उसे काफी बड़ी थी।

उसने पूछा, "साबित क्यों नहीं कर सकता?"

"झूठ भी भला कभी सच हुआ है?"

चन्नना ने उसे समझाया, "थाना-पुलिस, अदालत या सब बिल्कुल अलग ही दुनिया है री, साबित करना ही होगा, यह बात, बहुत पहले ही तय हो जाती है। साबित कर भी देते हैं। यह एक विशाल, अदृश्य पहिया है, जो घूमता रहता है। लगातार घूमता

रहता है। यह पहिया, रूपसी औरतों को कुचल-पीसकर, खत्म कर देता है।"

ऐसा ही होता है। यही होता है। दक्षिण चौबीस परगना के फौज़दारी मामले देखते-देखते, सरकारी वकील के मन में अब कोई आलोड़न नहीं जागता। रूपसी ने अगर खून किया भी हो, तो उसके पीछे कई-कई कारण थे, यह तो साबित नहीं होता।

हाथ में पंहसुल लिए-लिए, रूपसी ने पूछा था, "मैंने इस चीज से मारा? मेरे पति-परमेश्वर ने खुद देखा?"

जतन ने समयानुकूल हाहाकर भरे लहजे में जवाब दिया, "मारने को कहा तो था। उसके बाद, सुबह-सबेरे जंगल-मैदान से निपटकर, जब मैं कमरे में लौटा, तो..."

सास तो, खैर, अदालत में बुलायी ही नहीं गयी।

सन् 1979 साल! असंख्य वधू-हत्या और पतियों-सासों की फौरन गिरफ़्तारी का साल नहीं था। उस ज़माने में वधू-हत्या को लेकर इतना शोरगुल भी नहीं मचाया जाता था। समाज इतना जागरूक नहीं था। रूपसी को कोई सुविधा नसीब नहीं हुई।

दायरा अदालत में ही उसे आजीवन कारावास की सज़ा सुना दी गयी। रूपसी के लिए किसी ने हाई कोर्ट में अपील नहीं की।

चन्ना ने कहा, "कौन करता?" अब मुझे ही देखो न! बेटे को जन्म दिया था। बाईस दिन के बच्चे के मुंह में, अपनी दूध भरी छाती घुसेड़कर सो गयी। बेटे का दम घुट गया। मर गया। और मैं जेल काट रही हूं।"

वह रूपसी को अकसर समझाती थी, "इतना घुट-घुटकर रहने की क्या ज़रूरत है? खूब मेहनत कर, आराम से खा, पैसे जमा कर। रिहा होकर, जब बाहर निकलेगी, तो एक दुकान खोल लेना। सिगरेट-पान बेचना। अरे, एक ही पेट है न, चल ही जाएगा। या दुबारा उस पति-परमेश्वर का घर बसायेगी?"

"कौन पति? यहां आता ही कौन है? पहले बापू आया करते थे, अब भाई आता है।"

"यह भी बड़े ताज्जुब की बात है, री। बाहर निकलकर, खड़े होने के लिए एक जगह भी मौजूद है।"

"मरद अगर उम्र-कैद का सजावार हो, तो अपनी दुनिया में लौट सकता है। औरत..."

"बापू और भाई तो जानते हैं, मैं बेकसूर हूं।"

"और जिसने तुझे फंसाया? देख लेना, वह हंसी-खुशी अपनी गृहस्थी में मगन होगा।"

"तिबारा ब्याह कर लेगा? लड़की मिल जायेगी उसे?"

"मिलेगी क्यों नहीं? उस जैसे मर्दों को लड़की भी मिल जाती है।"

जेल से रिहाई के बाद, बेहद संयत बातचीत। दो हज़ार छः सौ चार रुपयों के कड़क नोटों की मालकिन बनी, रूपसी मन्ना, बाहर सड़क पर निकल आयी।

भाई ने बताया, "अब हम दक्षिण बारासात में आ बसे हैं दीदी।"

"और गांव की जमा-पूंजी?"

"सब बेच-बाचकर.. वहां तो सिर्फ़ बातें! लच्छेदार बातें! बातों की फुलझड़ी! कोई तरक्की भी नहीं हो रही थी—"

"घर बनवा लिया बापू ने?"

"हां, बनवा लिया। जरा, भीतर की तरफ! वहां तक सड़क, अभी नहीं बनी। बन जायेगी। खम्भे वगैरह बैठा दिए गए हैं। बिजली भी आने वाली है.."

"तेरे पास रिक्शे कितने हैं?"

"एक अपना और आठ किराए पर चलते हैं।"

"ब्याह नहीं किया?"

"किया। मेरा ससुर ही तो यहां ले आया—"

"उन लोगों की कोई खबर!"

"कहां से होगी? कौन रखता खबर? हां, जीजा बता रहे थे, मां तो मर गयी। ब्याह किया, मगर बीवी भाग गयी। अब फिर दलाल लगाया है, ब्याह करने के लिए। नाते-रिश्तेदारों ने उसे अलग-थलग जो कर दिया। पोखर-बागान, सब चला गया। उस दिन जीजा से कह रहा था—दो-दो बीवियां न लाई जायें, तो गिरस्ती नहीं चलने की। दोनों औरतें मेहनत करेंगी, आपस में मार-कुटाई करेंगी और उसे खिलायेंगी।"

"खैर, वह कुछ भी बोल सकता है।"

"तू जायेगी वहां?"

"इस जिन्दगी में तो नहीं। वैसे तुम लोगों पर भी बोझ नहीं बनूंगी। आलू-अंडे बेचकर, एक अदद पेट का गुजारा तो हो ही जाएगा।"

"वह सब, बाद में देखा जाएगा। मेरा ससुर कौन है, पता है?

"वही जीवन, जो मेरा रिश्ता लाया था—"

"हां, बेचारा पछतावे की आग में जल रहा है, तभी तो हम सबको यहां ला बसाया।"

"बापू की जमा-पूंजी? बांस-वन, पोखर?"

"स-ब! सब बेच-बाचकर, यहां..."

"यहां आकर, बापू ने जेनरेटर खरीद लिया। अब किराए पर चलाता है। यहां पैसा भी है—"

"जरूर नेक लोग हैं। हां, कल मैं डायमंड हार्बर जाऊंगी।"

"डायमंड हार्बर क्यों, दीदी?"

"वहां चन्ना दीदी का घर है। हम दोनों मिलकर कोई कारोबार करेंगी। कम-से-कम इतने रुपये तो हैं मेरे पास।"

"मां-बापू, सब..."

"ना, सुजन, अभी तो यही चाहते हो, लेकिन अगर मैं यहां रह गयी, तो कुछ ही दिनों में सैकड़ों तरह के ख्याल, मन बदल देंगे। लोग-बाग भी तुम लोगों पर किस्म-किस्म की बोली-आवाजें मारेंगे।"

"ना, ना, कोई कुच्छ नहीं कहेगा।"

"सब कहेंगे, सुजन। दोषी हो या निर्दोष, जेल की सजा काटकर, आने वाली औरत... वह भी खून के जुर्म में। यह कोई मामूली बात है?"

"लेकिन, तूने तो खून किया नहीं था, दिदिया।"

"जेल तो गयी? सजा तो काटी?"

"घर में मां-बापू, दीदी-जीजा, सुजन का बीवी-बच्चा।" दीदी ने कहा।

"अड़ोसी-पड़ोसी तो आने को नाच रहे हैं, लेकिन मैंने मना कर दिया। आज कोई न आये..."

"कत्ल किया हो या न किया हो, जो कलंक लग गया, वह तो जाने का नहीं, दिदिया।"

मां-बाप भी बड़े लाड़-प्यार से पेश आए "अभी टुक आराम कर ले, बिटिया, बाद में दिन-पल देखकर, तेरी शुद्धि करा लेंगे।"

"क्यों मां?"

"जेल-हाजत में रही, जात-कुजात के साथ...सो..."

"ठीक है, करा लेना, मगर कल जरा डायमंड हार्बर का एक चक्कर लगा आऊं..."

"वहां अब क्या है?"

"यहां अगर मैं रह गयी, मां, तो...वहां चन्ना दीदी का घर है। बाज़ार में सब्ज़ी-तरकारी-अंडे बेचती हैं। मैं भी वहीं... कुछ कर लूंगी। गुजारा हो जाएगा।"

बापू क्या कहते— "ना, रूपसी, तू कहीं मत जा?"

मां कहती— "आ, तू मेरी छाती में दुबकी रह?"

दीदी ने कहा, "ठीक ही कहा तूने, अगर यहां रही, तो सैकड़ों बातें उठेंगी, सैकड़ों झमेले..."

मां ने आंसू पोंछते हुए कहा, "अच्छा, अभी तो खा-पीकर, जरा सो जा..."

रूपसी का मन बार-बार उसे आगाह करता रहा। यह घर उसका अपना नहीं है। पंद्रह साल में सब कुछ बदल गया है।

रूपसी, डायमंड हार्बर जाने के लिए ही निकली थी। उसने सुजन को भी साथ नहीं लिया।

बापू ने उसे रोकर कहा, "मैं क्या इतना गया-गुजरा हूं कि तुझे खिला भी नहीं सकता था, उपासी?"

"खिला क्यों नहीं सकते थे? लेकिन, बापू, अगर मैं यहां रही न, तो..."

"फर्ज कर, चन्ना अगर तुझे वहां नहीं मिली?"

"मिलेगी! मिलेगी! फिक्र क्यों करते हो? अगर नहीं मिली, तो फिर एक बार यहीं लौटूंगी। मेरे यहां रहने से, तुम लोगों के लिए, सैकड़ों झमेले उठ खड़े होंगे। यहां दीदी है, सुजन है। उनके बच्चों के शादी ब्याह में आऊंगी। जश्न देखूंगी। वापस चली जाऊंगी।"

"तुझे सारा पता-ठिकाना मालूम है, री?"

सच बात तो यह थी कि रूपसी को एक भी ठिकाना सही-सही नहीं मालूम था। लेकिन, यह बात मां-बापू के सामने ज़ाहिर

नहीं की जा सकती थी। वेलफेयर दीदी ने एक रुक्के पर सारा अता-पता लिखकर, थमा दिया था। लेकिन वह जाए कैसे? संध्या चैटर्जी, विकल्प आश्रय, नारी कल्याण, हावड़ा, उंह! घूमते-भटकते पहुंच ही जाएगी। लेकिन, पहले, एक बार पति-श्री के दर्शन तो कर ले।

उसकी गाड़ी शाम को पहुंची। मकान खोजने में भी, कोई मुश्किल नहीं हुई। घर के दरवाज़े के एक कोने में, रूपसी छिपी बैठी रही। कुछ देर बाद, जतन लड़खड़ाते हुए, दरवाज़े तक आ पहुंचा। उसने दरवाज़े पर जड़े ताले में चाबी घुमायी, सांकल खोली। रूपसी बैठी रही।

काफी देर बाद, रूपसी कमरे में दाखिल हुई। जतन उसी चौकी पर सो रहा था, जिस पर कभी वह, अपने भले-बुरे सालों में, खुद सोया करती थी।

जेठानी के कमरे का दरवाज़ा खुला हुआ था। अंधेरा। सारा कुछ घुप्प अंधेरे में डूबा हुआ। सिर्फ़ एक ढिबरी टिमटिमा रही थी। जतन खूब चुस्त-तन्दुरुस्त, खाया-पीया, बलवान चेहरा। कमरे में लुंगी, बदन पर गंजी।

रूपसी ने पहंसुल उठा लिया और धीरे से जतन को धक्का दिया।

"सुनते हो? सुन रहे हो, मेरी बात!"

जतन ने सिर हिलाया।

"सुनो न!"

जतन ने आंखें खोलकर देखा।

"पहचानते हो मुझे?"

"तू...तू...तुम? तू?"

"हां, मैं! पहचाना?"

"तु...तु...यहां?"

"और कहां जाती?"

"तू... क्या यहां क्या करने..."

"हिसाब लेने आई हूं, जी?"

"क...क...कैसा हिसाब?"

"खुद बड़ी बहू को काटकर, टुकड़े-टुकड़े किए और नाम मेरा..."

"नहीं, नहीं नहीं, वो वक्त का चक्कर था..."

"नाम भी मेरा लगा, सजा भी मैंने काटी। निर्दोष होते हुए भी, जिस जुर्म में जेल की सजा काटी, यह अपराध अब कर ही डालूं। पिछले चौदह सालों से मैं सिर्फ़ और सिर्फ़ यही बात सोचती रही।"

"ना, ना, ना!" जतन ने हड़बड़ाकर, उठने की कोशिश की।

"ना-ना करने से भला कुछ आता-जाता है?"

रूपसी ने ढिबरी फूंककर बुझा डाली।

जतन मन्ना के रहस्यमय हत्याकांड के लिए, उसके करीबी रिश्तेदार-दुश्मन, निरापद मन्ना के ख़िलाफ़ पिछले बीस सालों से दीवानी मामला चल रहा था। आबगारी के दुकानदार से उसका झगड़ा, पंचायत सदस्य की बहन की इज़्ज़त लेने का गुनाह...ऐसे अनगिनत जुर्म के लिए उसे ज़िम्मेदार ठहराया गया।

जतन मन्ना वैनरिक्शे में सोये-सोये, प्रस्थान कर गया। गांव वालों ने कहा, पाप विदा हुआ। रूपसी मन्ना का नाम, किसी के ख्याल में भी नहीं आया। हां, शाम ढले, एक औरत घर में दाख़िल ज़रूर हुई थी, लेकिन ऐसे हर दिन ही नई-नई औरत आती जाती थी।

डायमंड हार्बर में पोई, सहजन, आलू-मूली बेचते-बेचते, रूपसी को भी खबर मिली, वह विधवा हो गयी है। सुजन ही खबर देने आया था।

रूपसी ने उसे झिड़कते हुए कहा, "देख, सुजन, बाजार-हाट का टैम है। धंधा खोटी मत कर। सधवा मैं थी कब, जो विधवा हो गयी?"

सुजन चुपचाप वहां से चल पड़ा...

महाश्वेता देवी *हिन्दी व बंगला साहित्य जगत की मशहूर लेखिका हैं।*

(मूल बंगला से अनुवादः सुशील गुप्ता)

राष्ट्रीय स्वास्थ्य अभियान की गारंटी

शकुंतला भालेराव

माता एवं बाल मृत्युदर घटाने, स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धि बढ़ाने तथा उन्हें जनता के प्रति जवाबदेय बनाने के उद्देश्य को लेकर 2005 में *राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन* की शुरूआत की गई। जनवरी 2014 में इसे *राष्ट्रीय स्वास्थ्य अभियान* का नाम दिया गया। इस अभियान के तहत नौ सालों में *मातृत्व अनुदान जननी-शिशु सुरक्षा कार्यक्रम, शारदा ग्राम संजीवनी* जैसी कई योजनाएं सरकार ने लागू की जिसके कारण मातृ एवं बाल मृत्युदर पर नियंत्रण किया गया। गर्भावस्था और संस्थागत जांच के आंकड़ों में भी बढ़त देखी गई है। परन्तु इसके साथ ही अस्पतालों में अच्छी सेवाओं की कमी व फ़िजूल के खर्चों के कारण महिलाओं को परेशानियों का सामना भी करना पड़ा है।

स्वास्थ्य तंत्र ने इस अभियान के तहत पहली बार 'लोगों के प्रति जवाबदेयी' को विशेष महत्व दिया है। इस लक्ष्य को मद्देनज़र रखकर नौ राज्यों में 'जन आधारित देखरेख और नियोजन' प्रक्रिया चलाई जा रही है जिसमें ग्राम स्वास्थ्य समिति को प्रशिक्षित करके स्वास्थ्य की बेहतर और सुघड़ सेवाओं को कार्यान्वित किया जाता है। पर विडम्बना यह है कि हर राज्य में इस 'जन आधारित देखरेख और नियोजन' की प्रक्रिया का स्वरूप अलग-अलग है। कई राज्यों में तो इस प्रक्रिया को ही स्वास्थ्य तंत्र से बाहर कर दिया है जिससे उनकी जवाबदेयी स्थापित न की जा सके। महाराष्ट्र का अनुभव कुछ निराला ही है। अनेकों प्रशासनिक समस्याओं का सामना करने के बावजूद अनेक संगठन मिलकर इस प्रक्रिया को आगे ले जा रहे हैं। यहां तक कि 'जन आधारित देखरेख और नियोजन' के इस विचार को स्वास्थ्य व्यवस्था से आगे ले जाते हुए इसका विस्तार अन्य सरकारी महकमों में भी करवाने के प्रयास किए जा रहे हैं। इस प्रक्रिया के प्रमुख पड़ावों में अधिकार आधारित नज़रिए के साथ जागरूकता फैलाना, गांव से लेकर राज्य स्तर तक समितियों का गठन, प्रगति कार्ड तैयार

करना तथा सभी मुद्दों पर जानकारी हासिल करके जन सुनवाई के माध्यम से स्वास्थ्य तंत्र से जवाबेदयी मांगना शामिल है। अब तक महाराष्ट्र में 450 जनसुनवाई आयोजित की जा चुकी हैं। लोग अब स्वास्थ्य व्यवस्था से अपनी समस्याओं पर खुलेआम सवाल पूछ रहे हैं और सरकारी अधिकारी उनको सुनने और उन पर कार्यवाही करने के लिए बाध्य हो रहे हैं।

इतना सब होने के बाद भी कुछ खास सुविधाओं को लेकर सरकार के रवैयों से कुछ निराशा भी हो रही है। हालांकि रेडियो, टीवी, अखबार के माध्यम से सरकारी अस्पतालों, आंगनवाड़ी और आशा कार्यकर्ताओं के ज़रिए सरकार अपनी सेवाओं का प्रचार कर रही है। "स्वास्थ्य मां स्वस्थ संतान और तुरंत भुगतान", "फ़िक्र नहीं खर्चे की, मुफ़्त सेवा जचगी की" और "102 नं. घुमाइए जचगी के लिए मुफ़्त गाड़ी मंगवाइये" जैसे नारों से लोगों को आकर्षित भी किया जा रहा है। परन्तु अस्पतालों से डॉक्टर गायब हैं और मुफ़्त मिलने वाली गाड़ी के लिए पैसे चुकाने पड़ रहे हैं। सेवाओं की कमी के कारण सरकारी अस्पताल छोड़कर प्राईवेट सुविधाओं पर निर्भर होना पड़ रहा है। कई बार तो इन खराब सेवाओं के चलते रास्ते में प्रसव होना या बच्चे की मौत होने जैसी समस्याएं सामने आ रही हैं। अनेक महिलाओं को *जननी सुरक्षा योजना* का कोई लाभ भी नहीं मिल रहा है।

एक ओर तो *राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन* मुफ़्त और विशेष सेवाओं की गारंटी देने का दावा करता है वही दूसरी ओर लोगों के अनुभवों की सच्चाई इससे बिल्कुल परे है। पुणे ज़िले की भोर तहसील में उप ज़िला अस्पताल में सोनोग्राफ़ी जांच के लिए 700 लिए जा रहे हैं। *जननी सुरक्षा योजना* के तहत महिलाओं को पैसे पाने के लिए तरह-तरह के प्रमाण पत्र और कागज़ी कार्यवाही की मांग की जा रही हैं। महिलाओं को 6 माह पुराने चैक दिए जा रहे हैं जिनका पैसा महिलाओं को नहीं मिल पाता। कुछ सरकारी अस्पतालों में जचगी के लिए चार हज़ार रुपयों की मांग की जा रही है। अस्पतालों में सोनोग्राफ़ी सेवाएं रेडियोलॉजिस्ट या मशीन चलाने और ठीक करने वाले कारीगरों का भी अभाव है। कागज़ पर लुभावनी दिखने वाली स्कीमों का कार्यान्वयन बिल्कुल नगण्य है।

जिन इलाकों में 'जन देखरेख व नियोजन प्रक्रिया' चलाई जा रही है वहां हालातों में कुछ सुधार अवश्य देखने को मिला है। इलाके के लोग भी अपने हक़ों की प्रखर मांग कर रहे हैं। पर स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाने के लिए सेवा अधिकारियों में काम करने की इच्छाशक्ति, पर्याप्त कर्मचारी, रहने की अच्छी व्यवस्था, बिजली, पानी, सफाई और आधारभूत सुविधाओं की मौजूदगी, दवाइयों और मशीनों की व्यवस्था होना बहुत ज़रूरी हैं। इसके अलावा गांव में एएनएम की सतत मौजूदगी, अस्पतालों में सिज़ेरियन सेवा की उपलब्धि, प्रशिक्षित डॉक्टर व नर्सों की मौजूदगी भी अहम मांगें हैं। लोग अब जागरूक होकर अपने अधिकार और सरकार से बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं की मांग कर रहे हैं। पर सरकार लोगों के जीवन के साथ न्याय कब करेगी यह स्पष्ट नहीं है। ऐसे में हम स्वास्थ्य व्यवस्था से क्या उम्मीद कर सकते है यह समझना वाकई मुश्किल है।

ठाणे ज़िले की डहाणु तहसील की जन सुनवाई में महिलाओं ने शिकायत की कि वहां के ग्रामीण अस्पताल से बड़ी संख्या में जचगी के मामले नज़दीकी गुजरात राज्य के बलसाड़, सिल्वासा जगहों पर भेजे जाते हैं। वैद्यकीय अधिकारी ने सफ़ाई देते हुए कहा कि ऐसा अच्छी देखभाल और पलंग की सुविधा होने पर ही किया जाता है। जनसुवाई में इस जवाब से ही स्वास्थ्य तंत्र की सेवाओं की सच्चाई का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। इलाके के 14 गांवों की महिलाओं ने इस तरह की शिकायत सामने रखी थी।

शकुंतला भालेराव *महिला व स्वास्थ्य मुद्दों पर सक्रिय कार्यकर्ता हैं।*

यौन कर्मियों के लिए न्याय: कहां?

आरती पाई व मीना सरस्वती सेषु

सभी औरतों के लिए न्याय तक पहुंच अनेक सामाजिक अवरोधकों द्वारा सीमित होती है जैसे हक़ों की जानकारी, पुरुष रिश्तेदारों पर निर्भरता, मदद, संसाधनों और मज़बूरी की धमकी तथा महिलाओं की विशेष ज़रूरतों के प्रति न्याय व्यवस्था में प्रतिक्रिया की कमी। भारत में यौन कर्म से जुड़ी महिलाओं के मामले में यौन कर्म से जुड़ा कलंक और 'नैतिक' नज़रिया न्याय तक उनकी पहुंच को और अधिक कमज़ोर बना देता है।

भारत की क़ानून व्यवस्था पर क़ानून के पितृसत्तात्मक स्वभाव का नकारात्मक प्रभाव आज भी हर ओर देखा जा सकता है जिसमें यौनिकता को सीमित निर्माण और यौन कर्मियों के प्रति विशेष पूर्वाग्रह विद्यमान है। न्याय करने वाले अफ़सरों की आंखों पर पड़े नैतिकता के चश्मे के चलते यौन कर्मियों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है और अदालत व कार्यान्वयन संस्थाएं क़ानून लागू करने में उनके साथ अन्याय करती हैं। भेदभाव व नाइंसाफ़ी का यह रवैया स्पष्ट तौर पर तब नज़र आता है जब यौन कर्मियों को हिंसा के पीड़ित के रूप में, 'रेड अथवा बचाव कार्य' के दौरान या किसी अपराध के कारण अदालत में पेश किया जाता है। ऐसे में उन्हें अदालत की सुनवाई की लम्बी अवधि के दौरान अनेक तकलीफ़ों का सामना करना पड़ता है; निजी वकील ऊंची फीस और उनकी ओर से केस लड़ने के लिये यौन अनुग्रह की मांग भी अक्सर करते हैं। यौन कर्मियों के जीवन और परिस्थितियों को लेकर समझ की कमी तथा क़ानून में उनके अनिश्चित दर्जे के कारण अक्सर फ़ैसलों में उन्हें अपराधी या बार-बार जुर्म करने वालों की श्रेणी में रख दिया जाता है।

भारतीय संविधान में मुफ़्त क़ानूनी मदद के प्रावधान के तहत उल्लेखित है कि राज्य गरीब व हाशिए पर रहने वाली महिलाओं के लिए मुफ़्त क़ानूनी सेवाएं मुहैया करेगा और उनकी गुणवत्ता और प्रभाव पर भी ध्यान देगा। परन्तु

एक चकले में रेड पड़ने पर एक गूंगी व बहरी यौन कर्मी महिला को हिरासत में चार महीने रखने के बाद अदालत में पेश किया गया। हम उस समय अदालत में मौजूद थे जब उसने न्यायाधीश से कहा कि वह अपने घर लौटना चाहती है और संरक्षण केन्द्र में नहीं रहना चाहती। हम हैरान रह गए जब भरी अदालत में न्यायाधीश ने कहा, 'यह गटर से आई है और वहीं गटर में वापस लौटना चाहती है। यह किसी की बात नहीं सुनेगी।' इस तरह का अपमानजनक व्यवहार करने वाली अदालतों से हम कौन से न्याय की उम्मीद रख सकते हैं?

– वैम्प क्लैक्टिव-सांगली

इसकी अनुदेश मौजूदगी के बावजूद यौन कर्मियों के लिए न्याय सेवाओं तक पहुंच महज़ एक कल्पना मात्र है।

सर्वोच्च न्यायालय ने भी घोषित किया है कि राज्य व ज़िला क़ानूनी सहायता सेवाएं सरकार द्वारा चलाई जा रही विभिन्न स्कीमों को उपलब्ध कराने में विशेष भूमिका अदा करेगीं। कोर्ट ने यह भी सुझाव दिया है कि क़ानूनी सेवाओं द्वारा आपराधिक प्रक्रिया संहिता के तहत मिलने वाले पीड़ित मुआवज़े के प्रावधान का प्रचार किया जाना चाहिए जिससे किसी भी जुर्म या भेदभाव के पीड़ित व्यक्ति तात्कालिक राहत के लिए क़ानूनी सहायता सेवा अभिकरण से सीधे सम्पर्क कर सकें।

परन्तु अनेक मामलों में यह देखा गया है कि महिलाएं व पारलिंगी यौन कर्मियों के लिए अदालत में अपील करना भी मुश्किल होता है। सन् 2010-2013 के बीच, 22 अदालतों में यौन कर्मियों के ख़िलाफ़ दर्ज यौन कर्म, वेश्यावृति, सार्वजनिक जगहों पर माहौल को खराब करने व ग्राहक तलाशने के मामलों में से केवल आठ अदालत तक पहुंचे थे। इस निम्न संख्या को देखकर यह अंदाज़ा लगाया जा सकता हैं कि पुलिस या अपराध संहिता के तहत दर्ज मामलों में से गिने-चुने ही अदालत तक सुनवाई के लिए पहुंचते हैं, और यौन कर्मियों की न्याय व अदालत तक पहुंच बेहद सीमित है। बहुत हद तक यह इस सच की ओर संकेत करती है कि निचली अदालतों में यौन कर्मियों से जुड़े मामलों में होने वाली गलतियों को सुधारने के मौके भी यौन कर्मियों को नहीं मिलते। इन गलतियों के पीछे के मुख्य कारण हैं यौन कर्मियों के काम की परिस्थितियों की समझ का अभाव, वकीलों के यौन अनुग्रह और यौन कर्मी की पहचान से जुड़े कलंक और पूर्वाग्रह।

यौन कर्मियों को सबसे अधिक पूर्वाग्रह ज़िला स्तरीय अदालत के वकीलों व अफ़सरों के हाथों झेलना पड़ता है। उन्हें अपना 'अवैध धन्धा' बंद करने, ग्राहक आमंत्रित करने के अपराध में चुपचाप जुर्माना भरने और 'मामले को आगे न घसीटने' की सलाह दी जाती है। अनु माकेल मामला इसका सबसे सटीक उदाहरण है जिसमें अस्पताल में अपने दोस्त को देखने गई एक यौन कर्मी को पुलिस ने बेरहमी से पीटा। उस पर आरोप लगाया गया कि वह ग्राहक तलाश रही थी। सरकारी अस्पताल में अपनी चोटों का इलाज करवाने के दौरान उसका गर्भपात हो गया। दूसरे दिन उसे अदालत में ग्राहक को फंसाने के आरोप में पेश किया गया। वहां उसे जुर्माना भरना पड़ा। यह हैरानी की बात नहीं है कि अदालत और क़ानूनी सहायता केन्द्र यौन कर्मियों के लिए अंतिम विकल्प (या विकल्प ही नहीं) होते हैं।

न्याय तक पहुंच में मनाही

जब यौन कर्मी 'रेड और बचाव' अभियानों के बाद जिला क़ानूनी सहायता सेवा अभिकरण के पास मुफ़्त क़ानूनी मदद की मांग लेकर पहुंचे तो अफ़सरों ने उनसे कहा कि "यौन कर्म अवैध धन्धा है।" इसी तरह यौन कर्मियों को क़ानूनी मदद दिलाने के लिए क़ानूनी सहायता केन्द्र की स्थापना के लिए वित्तीय मदद और परामर्श मांगने पर अफ़सरों ने कहा कि इसके लिए राष्ट्रीय और राज्य क़ानूनी सहायता सेवा अभिकरण से इज़ाज़त लेने की ज़रूरत है। जब यौन कर्मियों में राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर प्रस्ताव दाखिल किए तो उन्हें वहां भी मदद देने से इंकार कर दिया गया। हताश होकर यौन कर्मियों ने क़ानूनी सेवा अभिकरण से सम्पर्क करना ही बंद कर दिया।

– वैम्प, सतारा

यौन कर्मियों के लिए राज्य एक हिंसा का स्रोत है— जिससे वे डरती हैं— वह उनके अधिकारों की हिफ़ाजत का ज़रिया नहीं है। आधिकारिक पदों पर आसीन लोग यौन कर्मियों से अन्याय के जल्दी प्रतिकार या हक़ों की बहाली के लिए यौन अनुग्रह की नियमित रूप से मांग

पुलिस हिंसा के अनुभव
(भारत के 3000 यौनकर्मियों के साथ सर्वेक्षण पर आधारित)

निन्दात्मक भाषा	143	50
	1	%
मारपीट, बाल खींचना	101	35
बेल्ट से पिटाई	1	%
धमकी	105	37
	2	%
जबरन रिश्वत	569	20

करते हैं। यौन भाषा और जुमलों के ज़रिए वे यौन कर्मियों को हमेशा दुत्कारते रहते हैं। यौन कर्मी क़ानून लागू करने वाले पक्षों को राज्य की सबसे अधिक दमनकारी संस्था के रूप में देखते हैं। पुलिस भी यौन कर्मियों को अवैध रूप से हिरासत में रखकर उन पर यौन अत्याचार और शोषण जैसे अपराध करती है। गिरफ्तार होने पर उनके तमाम अधिकारों का हनन होता है जो राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के संरक्षण व गिरफ्तारी के मार्गदर्शकों का सीधा-सीधा उल्लंघन है। तो फिर यौन कर्मियों के लिए न्याय कहां है?

आरती पाई व मीना सरस्वती सेषु संग्राम व वैम्प के माध्यम से यौनकर्मियों के अधिकारों पर काम करती हैं।

पैर

खड़े थे पैर
असमंजस में
चलें कि खड़े रहें
सोच में पड़ गये वे
चलने से पहले
चट से

उठते थे
और चलने लगते थे
बचपन में
नहीं होती थीं कोई निश्चित वजहें
चलने की या खड़े होने की
पैरों ने कभी
कल्पना भी नहीं की थी
कि वे सोचने लगेंगे
एक दिन!

ज्योत्सना मिलन

आमने-सामने

पेंशन का अधिकार

वृद्धों के साथ किया जाने वाला व्यवहार सभ्य समाज में बेहतर सूचकांकों में से एक है। वर्तमान में हमारी जनसंख्या का 8.2 प्रतिशत बुजुर्ग हैं जिनकी संख्या करीब 10 करोड़ है और उनमें से हर छठवां बुजुर्ग अकेले रहने को मजबूर है। बड़े पैमाने पर कामगर परिवारों का पलायन एक नियम सा बन गया है। ऐसे में वे परिवारों के बुजुर्गों कि बिना उचित देखभाल और आर्थिक मदद के अकेले छोड़ने को मजबूर हैं। यह सामाजिक एवं आर्थिक बदलाव स्वतः ही नहीं उभरे हैं बल्कि सरकार के आर्थिक बदलावों के लक्षण हैं। इसीलिए सरकार बुजुर्गों की देखभाल के लिए उत्तरदायी बनती है और उसकी ज़िम्मेदारी हो जाती है कि वह तय करे कि बुजुर्ग भी आर्थिक रूप से सम्बल, स्वस्थ और आरामदायक जीवन जी सकें।

वर्तमान में लागू सरकारी योजनाएं

भारत में *इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना,* जो कि ग्रामीण विकास मंत्रालय से सम्बद्ध है के तहत 60 वर्ष से अधिक आयु के वृद्धों को 200 रुपए तथा 80 वर्ष से अधिक आयु के वृद्धों को 500 रुपए प्रतिमाह पेंशन मिलने का प्रावधान है। परन्तु यह केवल गरीबी की रेखा के नीचे (बीपीएल) रहने वाले परिवारों के बुजुर्गों के लिए ही मान्य है। इस तरह वर्तमान में केवल देश भर के 1.97 करोड़ लोग ही इसके हक़दार हैं और केवल हर पांचवां 60 वर्ष से अधिक आयु का व्यक्ति ही इसका लाभ ले पा रहा है। पेंशन की राशि भिन्न-भिन्न राज्यों में 200 रुपए से लेकर 1000 रुपए तक है। जहां गोवा और दिल्ली में पेंशन की यह राशि 1000 रुपए है वहीं आन्ध्रप्रदेश, बिहार और उड़ीसा जैसे राज्यों में यह 200 रुपए है।

अन्तर्राष्ट्रीय उदाहरण

दुनिया में कई निम्न और मध्यम आय वाले देश हैं जहां सरकार अपने स्तर पर या आंशिक योगदान पर सभी बुजुर्गों को पेंशन उपलब्ध कराती है। उदाहरण के लिए

बोलिविया देश, जिसकी आमदनी भारत से 40 गुना अधिक है अपने बुजुर्ग नागरिकों को भारतीय मुद्रा में करीब 1500 रुपए की पेंशन देता है। वहीं कीनिया जिसकी आमदनी भारत से आधी है 1250 रुपए की पेंशन सभी बुजुर्ग नागरिकों को उपलब्ध कराता है। यहां तक कि नेपाल जैसा देश जिसकी आमदनी भारत से तिहाई ही है करीब 313 रुपए की पेंशन उपलब्ध कराता है।

संसाधनों का विषम आवंटन

हमारे देश में संगठित क्षेत्र में काम कर चुके बुजुर्गों को, तथा उच्च या मध्यम वर्ग के लोगों को ही पेंशन उपलब्ध है। लेकिन सबसे ज़्यादा ज़रूरतमंद बुजुर्ग असंगठित क्षेत्र से आते हैं। सन् 2000 से 2010 तक संगठित क्षेत्र में केवल 0.3 प्रतिशत लोग ही रोज़गार पा सके हैं। जबकि भारत का *सकल घरेलू उत्पाद* 7.5 की दर से दुगुना हो गया है। इससे यह साबित होता है कि विकास का हिस्सा असंगठित क्षेत्र से आता है। असंगठित क्षेत्रों में काम करने वाले ज़्यादा कठिन परिस्थितियों में और बिना अच्छे भोजन और बिना पूर्ण आराम से काम करते हैं। इस लिहाज़ से पेंशन की मांग उनके द्वारा देश को दिए गए योगदान के एवज में उनका जायज हक़ है। इनके अतिरिक्त अनेक वंचित समूह जैसे— आदिवासी, किन्नर, विकलांग, यौनकर्मी समूह के वृद्ध भी बिना सहायता और मदद के जीवन जीने को मजबूर हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कम उम्र होने के बावजूद भी भेदभाव के कारण काम नहीं कर पाते। इस तरह के समूह भी अन्य लोगों की तरह ही सरकारी मदद के हकदार हैं।

पिछले दो सालों से भी ज़्यादा समय से *पेंशन परिषद* ने भारत के असंगठित क्षेत्र के कामगारों और बुजुर्गों के लिए पेंशन बढ़ाने की मांग के साथ साथ सर्वमान्य पेंशन सुविधा के मुद्दे को उठाया है ताकि वंचित और असहाय लोग बुढ़ापे में दरिद्रता और अभाव का सामना न करें। इस मांग के समर्थन में देश के अधिकांश हिस्सों से आए बुजुर्गों ने मई, 2012 के बाद से प्रत्येक संसद सत्र के दौरान जंतर मंतर पर धरना दिया ताकि उनकी दुर्दशा पर सरकार का ध्यान जाए। हर बार, इन बुजुर्गों की मांगों को संसद के भीतर और बाहर काफी समर्थन मिला। 27 नवंबर, 2013 को छठी बार जमा हुए इन बुजुर्गों की मांग की थी कि सरकार उनकी मांगों को पूरा करने वाला क़ानून संसद के बजट सत्र के दौरान बनाने का आश्वासन दे।

हमारे काम के दौरान ऐसे हज़ारों लोगों की पहचान हुई है जो बुजुर्गावस्था में दयनीय स्थिति में रह रहे हैं और इनके सामने आजीविका की सुरक्षा का सवाल बना हुआ है। परिवार वालों की उपेक्षा के शिकार और गरीबी में रहने वाले ये बुजुर्ग भी सम्मान के साथ जीने के अधिकारी हैं। ऐसे में वृद्धावस्था पेंशन उनके लिए एक ज़रूरी संसाधन है जो उन्हें आर्थिक सुरक्षा का बोध, गरिमा और परिवार में मज़बूत उपस्थिति प्रदान करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम हो सकता है।

पेंशन परिषद की मांग हाशिए के अलग-अलग समुदाय की ज़रूरत और उनकी मांगों पर आधारित है। इनमें स्थानीय समुदाय के लोग, आंतरिक विस्थापन झेल रहे लोग, दलित, साइकिल रिक्शा चालक, जंगल में बसे लोग, कृषि मज़दूर, निर्माण श्रमिक, कूड़ा-कचरा बीनने वाले दिहाड़ी मज़दूर, नरेगा और ग्रामीण स्तर पर काम करने वाले कारीगर, नमक बनाने वाले मज़दूर, घरेलू ट्रांस जेंडर, विकलांग, समलैंगिक पुरुष, स्ट्रीट वेंडर्स, मछली मारने के काम से जुड़े लोग, एचआईवी संक्रमित व्यक्ति शामिल हैं।

पेंशन परिषद की मांगें

• **पेंशन सर्वमान्य हो-** पेंशन को सर्वमान्य बनाने से बुजुर्ग महिलाओं की स्थिति बेहतर होगी, क्योंकि रोज़मर्रा की ज़रूरतों के लिए बुजुर्ग महिलाएं दूसरों पर कहीं ज़्यादा निर्भर हैं। 48 फीसदी बुजुर्ग पुरुष दूसरों पर निर्भर हैं, इनमें 32 फीसदी पूरी तरह तथा 15 फीसदी आंशिक तौर पर निर्भर है। वहीं 84 फीसदी बुजुर्ग महिलाएं दूसरों पर निर्भर हैं, इनमें 72 फीसदी पूरी तरह जबकि 12 फीसदी आंशिक तौर पर आश्रित है। संयुक्त तौर पर 65 फीसदी बुजुर्ग दूसरों पर निर्भर रहते हैं।

(सैंपल सर्वे आर्गेनाइजेशन के 60वें राउंड के सर्वे में बुजुर्गों की आर्थिक निर्भरता के नतीजे के मुताबिक)

ये नतीजे बताते हैं कि वृद्धावस्था योजनाओं के लिए गरीबी रेखा ने नीचे रिहाइश को आधार बनाना कई मुश्किलों को जन्म देता है। पहली, आधिकारिक तौर पर जो गरीबी रेखा तय है, वह बेहद कम है। दूसरी, सरकार को गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के बारे में जानकारी जुटाने में काफी मुश्किल होती है और भारी संख्या में लोग इस सूची से छूटे रहे हैं। तीसरी, बीपीएल सूची बनाने और उसे कायम रखने की प्रक्रिया काफी दुरुह होती है और सरकारी अधिकारी इस सूची का इस्तेमाल बाकी रह गए लोगों को सही ठहराने के लिए करते हैं।

- **न्यूनतम मासिक पेंशन 2000 रुपए प्रतिमाह होना चाहिए या फिर न्यूनतम मज़दूरी का आधा, इनमें जो भी रकम ज़्यादा हो।**

फिलहाल प्रतिमाह 200 रुपए पेंशन का भुगतान होता है जो मामूली रकम है। राज्य सरकारों का इसमें योगदान उनकी मर्ज़ी पर आधारित होता है। कई राज्य तो इस पर एक भी पैसा खर्च नहीं करते। पेंशन की रकम इतनी होनी चाहिए कि बुजुर्ग सम्मान के साथ जीवन जी सकें।

- **पेंशन की रकम महंगाई दर पर आधारित हो।** पेंशन महंगाई दर से जुड़ी होनी चाहिए ताकि प्रत्येक छह महीने पर मंहगाई की दर के मुताबिक पेंशन की रकम में भी वृद्धि की जा सके।
- **पेंशन** की रकम का भुगतान लाभार्थी को **प्रत्येक महीने की निश्चित तारीख** को मिलना चाहिए। ताकि गरीब अशिक्षित और बेसहारा लोगों को समय पर उनका हक़ मिले।
- **पेंशन भुगतान की व्यवस्था पारदर्शी होनी चाहिए** और प्रत्येक राज्य के लाभार्थियों की सूची सार्वजनिक तौर वेबसाइट पर मौजूद होनी चाहिए ताकि कोई पेंशन फंड का गलत उपयोग न कर सके।

- सरकार को **शिकायत निवारण व्यवस्था** बनानी चाहिए जिससे अंसेवदनशील कर्मचारियों और अफ़सरों पर नियंत्रण रखा जा सके। संसद में शिकायत निवारण विधेयक को जल्द से जल्द लागू किए जाने की भी ज़रूरत है।

संवैधानिक जनादेश को कायम रखा जाए

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के तहत राज्य सरकार कई जनकल्याणकारी कदम उठा सकती है। संविधान की धारा 41 के तहत राज्यों को अपने नागरिकों को बेरोज़गारी, वृद्धावस्था, बीमारी, विकलांगता और किसी अन्य वजह से आर्थिक क्षमता और विकास नहीं कर पाने की स्थिति में मदद देने का प्रावधान है।

ज़मीनी स्तर पर मांग

सतत संघर्ष के बावजूद लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें सरकार की तरफ से कोई आर्थिक मदद नहीं मिलती। बिहार के 65 साल के परमेश्वर राम नरेगा में मज़दूरी करते हैं और गरीबी और भुखमरी का प्रतिदिन सामना करते हैं। उनका कहना है "जिस दिन कुछ कमाता हूं, उसी दिन खाना खाता हूं। जिस दिन नहीं कमा पाता उस दिन खाना भी नहीं खाता। जब उम्र बढ़ेगी तो मैं कहां जाऊंगा।" इन लोगों में आंध्रप्रदेश की अप्सार शेख जैसी यौनकर्मी भी शामिल हैं जो कहती हैं, "महिलाओं के रहन सहन का खर्च ज़्यादा होता है, चाहे वह अकेली हो या बुजुर्ग हो। हमें कम से कम 2000 रुपए पेंशन की ज़रूरत होगी। अगर सरकार हमें यह पेंशन मुहैया कराती है तो हमारा आत्मविश्वास बढ़ेगा और हम सम्मान के साथ जी पाएंगी। अहम बात यह है कि इससे ऐसी महिलाओं की संख्या कम होगी जो अपने परिवार का भरण पोषण करने के लिए यौनकर्म करने को मजबूर हैं।"

नीतिगत प्रतिक्रिया

पेंशन परिषद ने यह सुनिश्चित किया है कि सामाजिक रूप से हाशिए पर रहने वाले सभी समुदाय और असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को प्रतिनिधित्व और आवाज़ मिले।

केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री ने राज्य सभा में 7 मार्च, 2013 को कहा कि प्रधानमंत्री की सलाह से वे संसद में एक संशोधित राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम का प्रारूप पेश करेंगे जिसमें टास्क फोर्स और *पेंशन परिषद* की अनुशंसाओं को भी शामिल किया जाएगा। ग्रामीण विकास मंत्री श्री जयराम रमेश ने धरने पर आकर *पेंशन परिषद* की मांगों के मुताबिक तत्कालिक तौर पर निम्न कदम उठाने पर अपनी सहमति जताई है:

- गरीबी रेखा से ऊपर और नीचे के वर्गीकरण को हटाकर राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (एनएसएपी) को नये सिरे से गठित करना, जो सर्वमान्य तौर पर लागू हो।
- इस कार्यक्रम से बाहर रखे गए लोगों के लिए निश्चित आधार सुनिश्चित करना।
- पेंशन के लाभार्थियों को सरकार की अन्य योजनाओं के तहत खाद्य सुरक्षा और चिकित्सीय सुविधा मिलने की गारंटी।
- केंद्र सरकार प्रत्येक लाभार्थी के लिए न्यूनतम 500 रुपए प्रतिमाह की दर से 2013-2014 के लिए शुरू करेगी और राज्य सरकारों से इतनी ही रकम देने की अपील करेगी।
- पेंशन की रकम महंगाई दर पर आधारित होगी और प्रत्येक साल मनरेगा की मज़दूरी दर की तहत इसे संशोधित किया जाएगा।
- विधवा पेंशन योजना का लाभ सभी तलाक़शुदा, परित्यक्ता और 18 साल से अधिक उम्र की अकेली महिलाओं को भी मिलेगा।
- 40 साल से अधिक उम्र की अविवाहित महिलाएं और अकेली रहने वाली महिलाओं को भी पेंशन मिलेगी। 40 फीसदी या उससे अधिक विकलांगता वाले सभी लोगों को पेंशन दी जाएगी।
- डायरेक्ट बेनिफिट ट्रांसफर सिस्टम के ज़रिए प्रत्येक महीने की निर्धारित तिथि को पेंशन का भुगतान होगा।

लेकिन इन घोषणाओं पर ग्रामीण विकास मंत्रालय ने अभी तक अमल नहीं किया है। यह लड़ाई अभी भी अनवरत जारी है और जब तक न्यूनतम मज़दूरी की आधी पेंशन नहीं मिल जाती है तब तक हमारा यह संघर्ष जारी रहेगा।

साभारः मज़दूर किसान शक्ति संगठन, राजस्थान

संवाद

एक 'स्थगित' ख्वाब का आख़िर होता क्या है?

अरविंद नारायण

11 दिसम्बर 2014 को न्यायाधीश सिंघवी ने *सुरेश कुमार कौशल बनाम नाज़ फांउडेशन* केस में अपना फ़ैसला सुनाते हुए धारा 377 की वैधता को बरकरार रखते हुए लाखों समलैंगिक नागरिकों के जीवन को प्रभावशाली तरीक़े से पुनर्अपराधी करार दे दिया। इसे विक्रम सेठ ने बड़े मुखर तरीके से 'प्यार और क़ानून के लिए बुरा दिन' के रूप में व्यक्त किया। यह फ़ैसला एक बुरे साल का जो 16 दिसम्बर 2012 को युवा लड़की के नृशंस बलात्कार से शुरू हुआ था का बुरा अंत क्यों था?

सुरेश कुमार कौशल केस का फ़ैसला तीन महत्वपूर्ण कारणों से क़ानून को पराजित करता है। पहला, यह इस बात को नज़रअंदाज़ करता है कि न्यायपूर्वक फ़ैसलों का आधार तर्कसंगत निर्णय होने चाहिए। दूसरा, यह भारतीय संविधान को रेखांकित करने वाले सिद्धांत का अनुसरण नहीं करता तथा तीसरा, इसमें किसी भी तरह के संवैधानिक मानवतावाद की कमी दिखाई देती है।

सबसे बुनियादी बात यह है कि अगर फ़ैसले किसी तर्क पर आधारित न हों तो उनका कोई मतलब नहीं रह जाता। जब कोई न्यायाधीश अपना फ़ैसला सुनाता है तो वह यह दर्शाता है कि सभी पक्षों को भली-भांति आंकने के बाद वह किस निष्कर्ष पर पहुंचा है जो उसके फ़ैसले का तार्किक आधार बनता है। न्यायपालिका की यही विचारात्मक शक्ति उसकी वैधता को सतत और पुख्ता बनाती है।

सुरेश कुमार कौशल के मामले में विचारात्मक प्रजातंत्र के इसी बुनियादी साधन के उपयोग में अदालत से चूक हो गई है। मामले के तीन मुख्य बिन्दुओं पर न्यायाधीशों ने कोई भी तर्कसंगत दलील पेश नहीं की हैं। सबसे पहला सवाल जो अदालत के समक्ष था वह था कि क्या धारा 377 समानता के अधिकार, गरिमा व गोपनीयता के अधिकार और भेदभाव युक्त होने के अधिकार का उल्लंघन करती है?

जहां तक समानता के अधिकार का प्रश्न है वहां अदालत ने परख के लिए दो कसौटियां निर्धारित की हैं। पहली, धारा 14 के तहत वैधता हासिल करने के लिए क़ानून दो समूहों या वर्गों के बीच भेद कर सकता है परन्तु यह वर्गीकरण सुस्पष्ट अंतर पर आधारित होना चाहिए। दूसरा, वर्गीकरण के पीछे कोई उचित लक्ष्य से संबंध होना चाहिए। इस मामले में अदालत इस निष्कर्ष पर पहुंची कि 'सामान्य नियमों के अनुरूप शारीरिक सहवास' और 'प्रकृति के नियमों के विरुद्ध शारीरिक सहवास' के बीच जायज़ फ़र्क़ किया जा सकता है। यह विवादपूर्ण है कि क्या इस वर्गीकरण में किसी 'स्पष्ट अंतर' का अभाव है क्योंकि न्यायाधीशों ने इस फ़ैसले में आगे यह भी कहा है कि 'इस खण्ड के तहत आने वाली क्रियाओं की सूची बनाना मुश्किल है।' पर अचरज तो इस बात पर है कि यह दलील दूसरी कसौटी पर भी खरी नहीं उतरती और इसका किसी खास लक्ष्य से कोई संबंध भी स्थापित नहीं किया गया है। इस सवाल को सम्बोधित करने में अदालत की असमर्थता पर तो सिर्फ़ यहीं अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि न्यायाधीश परख की दूसरी कसौटी को केवल इसलिए सम्बोधित नहीं करते क्योंकि ऐसा करने पर वे सार्वजनिक रूप से यह कहने के लिए बाध्य हो जाएंगे कि इस क़ानून को वैध क़रार देने के पीछे की प्रमुख वजह दरअसल 'नैतिक' है। न्यायाधीश शायद यह करना नहीं चाहते हैं।

जहां तक गोपनीयता के हक़ की बात है तो इस क़ानून के विकास के दौरान उच्च न्यायालय ने यह माना था कि धारा 21 के तहत घर की चारदीवारी के भीतर आज़ाद रहने

के साथ इस अधिकार में अपने निजी जीवन से संबंधित फ़ैसले करने का अधिकार भी शामिल है। इस लिहाज़ से धारा 377 घर के भीतर आज़ादी और अपने साथी से संबंधित निजी फ़ैसले लेने के हक़ का भी उल्लंघन करती है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस विषय पर भी कोई बात नहीं की है कि क्या धारा 377 गोपनीयता के अधिकार का हनन करती है।

उच्च न्यायालय के फ़ैसले के पीछे गरिमा का सवाल प्रमुख था। जहां तक *नाज़ फाउंडेशन* का मामला था उनका मानना है कि धारा 377 इंसान के व्यक्तित्व के एक अंतरंग पहलू का अपराधीकरण करती है और इस लिहाज़ से यह 'एक सम्पूर्ण व्यक्ति होने के हक़' का हनन है। गोपनीयता और गरिमा के बीच का यह संबंध किस तरह जीवन के अधिकार का समग्र पहलू होता है (धारा 21 के तहत मिलने वाले) ही *नाज़ फाउण्डेशन* की अदालत में दलील का प्रमुख तर्क था। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने इस विषय पर भी अपनी कोई प्रतिक्रिया ज़ाहिर नहीं की।

धारा 377 के प्रभाव से समलैंगिकों के जीवन के अधिकार के हनन को दर्शाने वाले प्रताड़ना, बलात्कार और अन्याय के बयानों पर *सुरेश कुमार कौशल* ने नीरस भाव से कहा कि 'धारा 377 द्वारा समलैंगिक व्यक्तियों के उत्पीड़न, ब्लैकमेल और यातना को अनदेखा व माफ़ नहीं किया जा सकता परन्तु सिर्फ़ दुरुपयोग की सच्चाई इस धारा के अवगुण को प्रतिबिम्बित नहीं करती।'

नाज़ फाउंडेशन द्वारा की गई एक महत्वपूर्ण पहल थी भेदभाव का सामना करने वाले समूहों की सुरक्षा के लिए धारा 15 के अंतर्गत समलैंगिक सहवास को एक समान दर्जा दिलाने की कोशिश। यह एक बेहद अहम न्यायिक अगुवाई थी जो सभी अल्पसंख्यकों के हित में थी और जिसका हमारे संविधान में उल्लेख नहीं है। हमारे लिए तो यह एक पहेली ही है कि अदालत ने इस पर कोई स्पष्टीकरण क्यों नहीं दिया कि इस मामले में धारा 15 क्यों लागू नहीं की जा सकती और महज़ इतना भर कहा कि 'उच्च न्यायालय का यह एलान सही नहीं था कि धारा 377 संविधान की धारा 14/15 के अधिकारातीत थी।'

जहां तक तर्क का सवाल है *कौशल केस* के फ़ैसले से यह साफ़ नहीं होता कि धारा 377 की संवैधानिक वैधता का आधार क्या है? हालांकि *कौशल मामले* की तार्किक पराजय भारतीय संविधान की सही व्याख्या करने में हार भी मानी जा सकती है। इसमें समानता, गोपनीयता व गरिमा के सवालों से आगे जाते हुए *नाज़ फांउडेशन* द्वारा विकसित सवैधानिक नैतिकता का सिद्धांत भी बेहद महत्वपूर्ण है। इसी मानक से प्रेरित होकर न्यायमूर्ति शाह ने संविधान सभा की बहसों व डा. अम्बेडकर के संवैधानिकता नैतिकता के मानक की जांच करने के बाद यह उल्लेख किया कि सार्वजनिक नैतिकता के मानक को आधार बनाकर किसी अल्पसंख्यक समूह को उनके अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो अगर भारत बहुसंख्यकों द्वारा शासित प्रजातंत्र होता तब शायद किसी क़ानून के तहत् महिलाओं, मुसलमानों, विकलांगों या ईसाई वर्गों के अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव की संभावना हो सकती थी। परन्तु *नाज़ फांउडेशन* द्वारा रेखांकित दलील यह है कि भारत भागीदारी की परम्परा पर आधारित संवैधानिक प्रजातंत्र है और यहां किसी भी रंग या झुकाव वाले व्यक्तियों के बुनियादी अधिकारों के साथ समझौता नहीं किया जा सकता।

नाज़ फांउडेशन ने दरअसल यह किया है कि डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रतिपादित संवैधानिक नैतिकता का मानक और पंडित नेहरू के भागीदारी के सिद्धांत को समलैंगिक व्यक्तियों तक विस्तारित कर दिया है। इस लिहाज़ से अदालत के निर्णय में सभी व्यक्तियों, फिर चाहे वे जनसंख्या का कितना ही छोटा हिस्सा क्यों न हों, के बुनियादी अधिकारों की पूरी सुरक्षा की संवैधानिक परिभाषा को और अधिक व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है।

कौशल मामले में दिये गये फ़ैसले में अदालत इसी संवैधानिक दायित्व की समझ को नज़रअंदाज़ कर दिया गया है। 'संसद की मंशा' जो 'जनता की मंशा' का प्रतिनिधित्व करती है का सम्मान करने के दायित्व को बरकरार रखने के अपने वादे की दलील पेश करके इसमें न्यायपालिका को सभी अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के जनमत से सुरक्षित करने की ज़िम्मेदारी से अलग कर दिया गया है। अदालत का यह निष्कर्ष कि देश की जनसंख्या का एक बहुत सूक्ष्म हिस्सा समलैंगिक, पारलिंगी, विषमलिंग या इतरलिंगी व्यक्तियों का है और इसलिये धारा 377 को रद्द करना गैरज़रूरी है, ने भारतीय संवैधानिकता के मायने ही बदल कर रख दिये हैं।

हालांकि क़ानून का मुख्य सरोकार तर्क से होता है परन्तु जज़बातों को पूरी तरह दरकिनार कर देना भी सही नहीं है। न्यायिक फ़ैसलों में मानवीय तकलीफ़ों के प्रति एक गहन समानुभूति झलकती है। *बंधुआ मुक्ति मोर्चा,* या फुटपाथ पर रहने वालों के हित में सुनाये गये फ़ैसले इस सच का प्रतीक हैं। हम यह कह सकते है कि इंसानी तकलीफ़ों के प्रति संवेदना प्रकट करके न्यायाधीश न्यायिक कार्यवाही को एक मानवतावादी रुख प्रदान करते हैं जो बहुत अहम होता है।

मानवतावाद का विचार हमारे संविधान का केंद्रिय लक्ष्य है जिसका उल्लेख नेहरु ने भारत की आज़ादी की पूर्वसंध्या को संविधान सभा के अपने वक्तत्व में भी किया था। गांधीजी की बात करते हुए नेहरु ने कहा था, "हमारी पीढ़ी के सबसे महान व्यक्ति की महत्वकांक्षा है कि वह हर आंख से आंसू का हरेक कतरा पोंछ सके। हम शायद ऐसा न कर पाएं। पर जब तक आंसू और पीड़ा रहेगी हमारा काम खत्म नहीं होगा।" यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर इस संवैधानिक ज़िम्मेदारी को पूरा करते हुए हर आंसू और हर तकलीफ़ को दूर करना होगा। पर *सुरेश कुमार कौशल मामले* में इस मानवीय तकलीफ़ से मुंह फेर लिया गया है और इस लिहाज़ से यह संवैधानिक मानवता की पराजय है।

क़ानून से आगे इस मामले की एक कमी यह भी है कि यह इस विचार को नकारता है कि क़ानून और प्यार एक ही समतल पर मिल सकते हैं। हालांकि *नाज़* ने कभी भी प्यार करने के अधिकार की बात नहीं की है परन्तु उन्होंने यह संभावना ज़रूर सामने रखी कि प्यार और क़ानून एक सतह पर मिल सकते हैं। *नाज़* फ़ैसले के आने तक समलैंगिकों के जीवन संबंधी प्रश्न का अर्थ यह समझा जा सकता था कि वे अपने शयनकक्ष के भीतर यौन संबंध बनाने के लिए आज़ाद हैं। *नाज़* ने इस बंद दरवाज़ों को खोलने का प्रयास करते हुए यह दावा किया कि लिंग और यौन झुकाव व्यक्तित्व में इस कदर बसे होते हैं कि व्यक्ति अपनी इस पहचान को अपने साथ हर जगह लेकर जाता है— यानी लिंग और यौन झुकाव व्यक्ति की अभिन्न पहचान का समग्र हिस्सा हैं। अदालत ने इस दावे को आगे ले जाते हुए कहा कि "राज्य का काम किसी व्यक्ति के साथी का चुनाव करना नहीं है बल्कि साथी खुद एक-दूसरे का चुनाव करते हैं।"

लिहाज़ा *नाज़* ने प्यार करने के अधिकार का विकास करते हुए यह सफलतापूर्ण दावा किया कि यौन झुकाव और लैंगिक पहचान के सवाल निजता से यौन क्रिया से संबंद्ध नहीं है, बल्कि ये पहचान और व्यक्तित्व से जुड़े प्रश्न है जिनमें अपनी पसंद के साथी के साथ अंतरंग रिश्ते बनाने की आज़ादी भी शामिल है। *सुरेश कुमार कौशल फ़ैसले* ने लैंगिक पहचान, यौन झुकाव की सीमा के पार प्यार करने के इसी अधिकार को खतरे में डाल दिया है। जाति, धर्म और यौनिकता की सीमारेखा से परे प्यार करने के अधिकार का समर्थन करने वाले पक्षों के लिए यह एक अफ़सोसजनक व दुखद हादसा है।

परन्तु इस फ़ैसले के विरोध में उठी सशक्त सार्वजनिक प्रतिक्रिया में एक आशा की किरण नज़र आती है। वकील, क़ानूनविद् अकादमिक, फ़िल्मकार, कलाकार, कार्यकर्ता यहां तक कि राजनेताओं ने इस फ़ैसले की कड़ी आलोचना की है। बदलाव की हवा का रुख इस बात से आंका जा सकता है कि मुख्यधारा की राजनैतिक कांग्रेस पार्टी भी समलैंगिकों को समर्थन देने के लिए बाध्य हो गई है। अंत में हम बस यही पूछना चाहते हैं —

"एक स्थगित ख्वाब का आख़िर क्या हश्र होता है ? क्या वह कड़ी धूप में एक किशमिश की तरह सूख जाता है या फिर ऊर्जा से फट पड़ता है।" *—लैंगस्टन ह्यूज*

क्या इस हार को जीत में बदलना संभव है?

अरविंद नारायण *आल्टर्नेटिव लॉ फ़ोरम के संस्थापक सदस्य व समलैंगिक मुद्दों के सक्रिय प्रवक्ता हैं।*

लेख

न्याय का अन्याय: शालीशी अदालतें

जयदीप मजूमदार

जब पश्चिम बंगाल की एक 'अदालत' ने एक स्त्री का सामूहिक बलात्कार किए जाने का आदेश सुनाया, जिसका जुर्म था एक अन्य गांव और समुदाय के विवाहित पुरुष के साथ संबंध रखना, तो देश भर में सभी स्तब्ध रह गए। लेकिन यह बात कुछ ही लोग जानते हैं कि ऐसे अवैध न्यायालय जिन्हें बंगाल में *शालीशी अदालतें* कहा जाता है राज्य के भीतरी ग्रामीण इलाकों में बड़े पैमाने पर काम कर रही हैं और वे मृत्युदंड की सज़ा तक देती आई हैं। ऐसे तालीबानी हुक्म सुनाने वालों को शायद ही कभी क़ानून के सामने लाया गया है।

फ़ारसी मूल के बंगाली शब्द 'शालीशी' का अर्थ है मध्यस्थता या बीच-बचाव। लेकिन इन अवैध अदालतों में वास्तव में जो कुछ होता है वह मध्यस्थता का एक मज़ाक है। हालांकि इन अदालतों का काम सिर्फ़ छोटे-मोटे झगड़े सुलझाना होता है लेकिन यह अदालतें चोरी से लेकर विवाहोत्तर संबंध और बलात्कार जैसे अनेक अपराधों पर फ़ैसले सुनाती हैं और वे भी अन्यायी और पूर्वाग्रह पूर्ण। बलात्कार के अधिकांश मामलों में मुल्ज़िम छोटा-मोटा जुर्माना भर के छूट जाता है विशेष रूप से यदि वह पैसे वाले या प्रभावी परिवार से हो। जो हुक्म मानने से इनकार करते हैं उन्हें उसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। पूर्व मदिनापुर ज़िले के बेटला गांव के मुनीरुल हक़ का मामला देखिए। एक स्थानीय तृणमूल कांग्रेस नेता निज़ामुद्दीन आलम की अध्यक्षता वाली *शालीशी अदालत* ने पिछले वर्ष सितम्बर माह में गांव के एक दुकानदार की बेटी को छेड़ने के आरोप में मुनीरुल को जुर्माने में 25,000 रुपये देने का आदेश दिया। एक गरीब मज़दूर मुनीरुल ने कहा कि वह इतनी बड़ी रकम नहीं दे सकता इसलिए उसका जुर्माना माफ़ किया जाए। निज़ामुद्दीन जो उस दुकानदार का भाई था ने कहा कि जुर्माने की एवज़ में उसे अपनी सोलह साल की बेटी की शादी 46 साल के मर्द से करनी होगी जिसकी पहले से दो बीवियां थीं। मुनीरुल को राज़ी होना पड़ा क्योंकि उसके पास और कोई चारा नहीं था।

ये अदालतें अपनी मनमर्ज़ी से फ़ैसले करती हैं। उदाहरण के लिए व्यभिचार के लिए सज़ा कुछ हज़ार रुपये जुर्माने से लेकर मृत्युदंड तक हो सकती है। जबकि एक छोटा-मोटा चोर जुर्माने से लेकर, सरेआम कोड़े मारे जाने या गांव निकाला दिए जाने की उम्मीद कर सकता है।

यह सब मुल्ज़िम की सामाजिक-आर्थिक स्थिति तथा *शालीशी अदालत* के सदस्य, गांव के बड़े-बूढ़ों की मर्ज़ी और मुल्ज़िम और उसके परिवार से उनके रिश्तों पर निर्भर करता है। यदि किसी धनी और प्रभावशाली परिवार की स्त्री पर विवाहोत्तर संबंधों का इल्ज़ाम लगता है तो संभावना है कि उसे चेतावनी और जुर्माने के बाद छोड़ दिया जाएगा परन्तु वही 'अपराध' यदि किसी ग़रीब परिवार की स्त्री करती है तो उसका सिर मुंडवाने से लेकर गांव में निर्वस्त्र घुमाने तक की कड़ी सज़ाएं दी जा सकती हैं।

जैसे यदि किसी व्यक्ति पर नशे में धुत होने का इल्ज़ाम लगता है और उसके परिवार के संबंध विपक्षी दल से हैं तो निश्चय ही उसे मिलने वाला दंड कही अधिक कठोर होगा।

इसमें कुछ भी क़ानूनी नहीं है

2004 में वामपंथी सरकार ने पश्चिम बंगाल में ब्लॉक स्तर पर वाद समाधान समिति विधेयक (जिसे शालीशी विधेयक के नाम से अधिक जाना गया) के द्वारा *शालीशी अदालतों* को क़ानूनी मंजूरी देने की कोशिश की। इस विधेयक के अन्तर्गत प्रत्येक प्रशासकीय ब्लॉक में छोटे–मोटे झगड़ों के समाधान के लिए समाधान समितियों की स्थापना की जानी थी परन्तु विपक्ष में कांग्रेस व तृणमूल कांग्रेस ने शोर मचाया और विधेयक के विरुद्ध आंदोलनों की झड़ी लगा दी। अन्ततः सरकार को राज्य की विधानसभा में यह बिल लाने की योजना त्यागनी पड़ी। विपक्षी दलों का कहना था कि वामपंथी (मुख्यतः सीपीएम) इन समाधान समितियों में अपने दल के लोगों की नियुक्ति करेंगे और इस तरह से वे ग्रामीण क्षेत्र में अपनी पकड़ मज़बूत करेंगे।

इसके बावजूद *शालीशी अदालतें* फलफूल रही है। वर्तमान में ग्रामीण इलाकों में ये 'अदालतें' तृणमूल कांग्रेस की पकड़ मज़बूत कर रही हैं।

"यहां दंड का चुनाव करने पर कई बातों का असर पड़ता है, परन्तु हमेशा उन्हें ही सबसे सख़्त सज़ा दी जाती है जिनका कोई आर्थिक या राजनीतिक प्रभाव नहीं होता", यह कहना है कलकत्ता विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के अध्यापक देबांजन मिश्रा का जो पिछले कई वर्षों से इन *शालीशी अदालतों* के फ़ैसलों का लेखा-जोखा रख रहे हैं।

शालीशी अदालतों द्वारा दिए जाने वाले मृत्युदंड प्रायः अत्यन्त गोपनीय तरीक़ों से अमल में लाए जाते हैं। इनमें पूरा गांव 'अमृत' यानी मौन रहने की शपथ लेता है। इस प्रकार से ऐसे लोगों को क़ानूनी शिकंजे में लाने की सभी कोशिशें नाकाम रहती हैं। यहां तक कि इनके शिकार लोगों के शव तक बरामद नहीं होते। एक जाना-माना मामला है, मालदा ज़िले के रतुआ ब्लॉक के सारामारी गांव के 21 वर्षीय वैन-रिक्शा चालक शेख़ सरिउल का। सरिउल पर उसी गांव के एक धनी किसान की पत्नी के साथ अवैध संबंध रखने का आरोप था। उसे 27 अगस्त 2010 को 'अदालत' में बुलाया गया। धनी किसान के कबीले के लोगों से भरी 'अदालत' ने उसे मृत्युदंड की सज़ा दी। सरिउल को पीट-पीट कर मार डाला गया और शव को किसान के घर के सैप्टिक टैंक में फेंक दिया गया। एक प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज की गई और दस लोगों को गिरफ़्तार भी किया परन्तु वे लोग ज़मानत पर बाहर है तथा सबूतों के अभाव में तफ़्तीश आगे नहीं बढ़ पा रही है। मुल्ज़िमों का कहना है कि सरिउल अदालत में पेश होने से पहले ही गांव छोड़ कर भाग गया और भागते हुए सैप्टिक टैंक में गिर गया। सरिउल के परिवार के अलावा पूरा गांव इसी कहानी पर अड़ा रहा अतः पुलिस इस केस में बिल्कुल आगे नहीं बढ़ पाई।

ज़्यादातर उदाहरणों में *शालीशी अदालतों* को राजनेताओं व राजनीतिक दलों का संरक्षण प्राप्त होता है। यह बात विशेष रूप से पिछड़े आदिवासी क्षेत्रों पर अधिक लागू होती है जहां गांव का मुखिया और उसके साथी पूरे गांव को किसी खास पार्टी को वोट देने का 'हुक्म' जारी करते हैं इसलिए राजनीतिक दल उन्हें किसी प्रकार से नाराज़ नहीं करना चाहते। बंगाल में राजनीतिक दल अनेक बार इन अदालतों का इस्तेमाल अपने विरोधियों को सबक सिखाने के लिए करते हैं। बंगाल में यह ढर्रा विशेष रूप से वामपंथी शासनकाल में शुरू हुआ था। इन अवैध अदालतों ने कुछ सच्चे और कुछ झूठे अपराधों के लिए अनगिनत समर्थकों, ऐक्टिविस्टों, कांग्रेस तथा तृणमूल कांग्रेस के स्थानीय नेताओं को जुर्माना, बहिष्कार और निर्वासन की सज़ाएं दी। 2011 में बंगाल में सत्ता में आने के बाद तृणमूल कांग्रेस ने भी अपने राजनीतिक विरोधियों को दबाने और ख़त्म करने के लिए इन अवैध अदालतों की मदद लेने से परहेज़ नहीं किया।

जयदीप मजूमदार *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया अखबार के पत्रकार हैं।*

पुस्तक परिचय

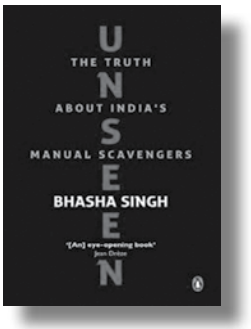

कोई इतना अंधा नहीं है

पुस्तक : अनसीनः द ट्रुथ अबाउट इंडियाज़ मैनुअल स्केवैन्जर्स
लेखन : भाषा सिंह, रेणु तलवार
पृष्ठ : 224
प्रकाशक : पैनगुइन, नई दिल्ली
भाषा : अंग्रेज़ी

यह एक ऐसा शब्द है जिसे छापने के लिए संकेतों या खाली जगहों का प्रयोग किया जाता है। इसे अच्छा नहीं समझा जाएगा यदि मैंने अपने लेख में 'पाखाना' शब्द का प्रयोग किया। हम कहेंगे कि गंभीर पत्रकारी लेखन का क्या स्तर हो गया है। परन्तु कोई बात नहीं, सारे देश में हज़ारों लोग जिनमें 98% स्त्रियां है इसी अप्रकाशनीय ढेर को बग़ैर दस्तानों के अपने हाथों से उठाकर टोकरियों में भरती हैं और उन टोकरियों को अपने सिर पर ढोकर हम जैसे सभ्य, पढ़े-लिखे, रोज़ नहाने वाले लोगों की उपस्थिति से दूर ले जाकर पटकती हैं।

शहरों में रहने वाले हममें से अनेक लोगों के लिए शायद यह अचम्भे की बात हो कि आज भी भारत में रोज़मर्रा कितने बड़े पैमाने पर हाथों से मैला उठाया जाता है। यह 'काम' जाति प्रथा से जकड़े सिर्फ़ एक समुदाय के लिए सुरक्षित है और जिसे एक निठल्ला, आंख मूंद कर बैठा लोकतांत्रिक समाज और मज़बूत करता है।

क्या हाथ से मैला उठाने की प्रथा की मौजूदगी और वह भी सिर्फ़ एक ख़ास समुदाय के लोगों द्वारा, मानवता के प्रति अपराध नहीं है? इसे मुद्दे पर प्रायः बहस सुनाई नहीं देती। बहस के लिए अन्य कई विषय हैं— रुपये की गिरती कीमत, भारत की परमाणु क्षमता, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आदि। आख़िर हम एक महाशक्ति बनने की 'प्रतिक्षा' में हैं। 'प्रतिक्षा' ही वह शब्द है जो भारत में हाथ से मैला उठाने वालो के जीवन पर लागू होता है। वे प्रतीक्षा कर रहे हैं 1993 से जब संसद ने सबसे पहले क़ानूनी रूप से इस प्रथा को निषिद्ध घोषित किया था।

भाषा सिंह की मूल पुस्तक *अदृश्य भारत* शीर्षक से 2012 में हिन्दी में प्रकाशित हुई थी। रेणु तलवार के अंग्रेज़ी अनुवाद *अनसीन द ट्रुथ अबाउट इंडियाज़ मैनुअल स्केवैन्जर्स* के साथ पुस्तक को आज के हिसाब से आधुनिक और विस्तृत किया गया है।

इसमें कुछ नए अध्याय जोड़े गए हैं जैसे कि भारतीय रेल सेवा के बारे में। भाषा सिंह का कहना है कि उन्होंने "नए उदाहरण एवं आंकड़े भी जोड़े हैं।" मिसाल के लिए दिल्ली के अध्याय में मीना की कहानी की वर्तमान स्थिति दी गई है। शुक्र है कि अब वह ई-रिक्शा चलाती है जिसे सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन का सहयोग प्राप्त हैं। उसे दिल्ली या केन्द्रीय सरकार से कोई मदद नहीं मिली है।

लेखिका का यह भी कहना है कि उन्होंने 6 दिसम्बर 2013 से प्रभाव नए क़ानून "हाथ से मैला उठाने के रोज़गार का निषेध तथा उनका पुनर्वास क़ानून 2013" की भी इसमें चर्चा की है। इस भाग में नए क़ानून तथा उसकी क़मियों और उसके पीछे छिपे आशयों के बारे में भी बताया है कि कैसे यह नया क़ानून कार्यान्वयन में आया है तथा इसके पीछे कौन से घटक हैं। *'अनसीन'* पुस्तक को पढ़ना काफ़ी तकलीफ़देह था। अनेक बार स्वयं लेखिका अपने उन अनुभवों की भयानकता की चर्चा करती है जब वे 11 राज्यों में घूम-घूम कर हाथ से मैला उठाने वालों से मिल रही थीं। उनकी भाषाएं अलग थीं, पोशाक, रीति-रिवाज और मुक्ति की आशा के प्रति उनका दृष्टिकोण भी अलग-अलग था परन्तु वे आपस में उनके कार्य की अमानवीय प्रकृति तथा जाति प्रथा द्वारा पूरे एक समुदाय पर थोपे गए इस अभिशाप के कारण जुड़े हुए थे। लेखिका को निरन्तर यह अहसास होता रहा कि वे लोग हर रोज़ यही काम करने के लिए बाध्य हैं। यहां आयु का भी कोई बंधन नहीं है। दरअसल इस काम में लगे लोगों का कहना है कि कम उम्र से काम शुरू कर देना अच्छा है ताकि इसकी आदत पड़ जाए।

यह एक पर्याप्त शर्मनाक सच्चाई है कि "हाथ से मैला उठाने का रोज़गार तथा निर्जल संडास निर्माण (निषेध) क़ानून" 1993 में संसद में पास किया गया था। भाषा ने अपना शोध 2003 में शुरू किया था यानी क़ानून बनने के पूरे दस

साल बाद और पाया कि हाथ से मैला उठाने वाले अधिकतर लोगों ने इस क़ानून के बारे में सुना भी नहीं था और न पुनर्वास उन तक पहुंचा था।

अपने शोध के दौरान लेखिका का सामना समाज और सरकार की पूर्ण उदासीनता से हुआ। सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन को क़ानून लागू करवाने के लिए जनहित याचिका दायर करनी पड़ी। वे लिखती हैं कि कई नई चीज़ें हुई हैं पर सबसे अदभुत चीज़ है नया क़ानून। 2010 और 2011 में भारत सरकार ने संसद में एक वक्तव्य दिया कि भारत में हाथ से मैला उठाने की प्रथा समाप्त हो चुकी है। उन्होंने यह भी कहा कि हम इस योजना को बंद कर रहे हैं क्योंकि अब कोई हाथ से मैला नहीं उठाता। परन्तु 2014 में सरकार ने सिर्फ़ यह माना कि अब भी हाथ से मैला उठाया और सिर पर ढोया जाता है बल्कि एक नया क़ानून पास करके इसकी परिभाषा का विस्तार भी किया। 1993 के क़ानून में केवल निर्जल संडास की तरफ ध्यान दिया गया था लेकिन अब इसके अन्तर्गत सैप्टिक टैंक, खुली नालियों-गड्ढों की सफ़ाई तथा कुछ सीमा तक सीवर लाइनों तथा रेल की पटरियों की सफ़ाई को भी शामिल किया गया।

वे ज़ोर देकर कहती हैं कि भारत के इतिहास में पहली बार क़ानून में ऐसे मुद्दों पर बात हुई है। यह सब संभव हो पाया केवल समुदाय के अपने आंदोलन की वजह से। चूंकि उनकी कोई राजनीतिक उपस्थिति और आवाज़ नहीं है इसलिए किसी दल ने इस मुद्दे को नहीं उठाया। यह प्रभाव है जन मानस में बैठी जाति व्यवस्था का जो किसी न किसी रूप में आज भी सक्रिय है। सामाजिक तथा नागरिक क्षेत्र में भी बहुत कम संस्थाएं ऐसी हैं जो इस मुद्दे पर सक्रिय हैं।

जो भी परिवर्तन आया है उसके लिए स्त्रियां ज़िम्मेदार हैं जिन्होंने साफ़ कह दिया है कि वे इस अमानवीय कार्य को कतई नहीं करेंगी और न अपने बच्चों को इससे जुड़ने देंगी। वे इज़्ज़त का रोज़गार और ज़िन्दगी चाहती हैं।

वे एक अन्य बड़ी विडम्बना की ओर संकेत करती हैं भारत सरकार ने हाथ से मैला उठाने वालों के पुनर्वास के लिए तथा इस व्यवस्था की समाप्ति के लिए पिछले दो बजटों में 100 करोड़ रुपए आबंटित किए। परन्तु आश्चर्यजनक रूप से पता लगा कि पूरे साल में इस राशि का इस्तेमाल किया ही नहीं गया था क्योंकि इस सहायता को लेने के लिए कोई हाथ से मैला उठाने वाला आगे आया ही नहीं।

सरकार ने कहा कि वे हाथ से मैला उठाने वालों का राष्ट्रीय सर्वेक्षण करवाना चाहते हैं लेकिन इस काम के लिए तत्पर कोई उचित एजेन्सी नहीं मिलती। इसके बावजूद लेखिका का कहना है कि सफ़ाई कर्मचारी समूह ने हाथ से मैला उठाने वाले 1500 लोगों की फ़ोटो सहित सूची पेश की है जिसमें निर्जल शौचालय में मानव विष्ठा साफ़ करती हुई, झाड़ू उठाए हुए स्त्रियां दिखाई देती हैं। ये सूची भी सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें वे ही लोग शामिल है जो फ़ोटो खिंचवाने को तैयार थे। सवाल यह उठता है कि संबंधित एजेन्सियां शुरुआत के लिए कम से कम इस सूची का प्रयोग तो कर ही सकती हैं। परन्तु सरकारी बाबुओं और राजनीतिक व्यवस्था में इस मुद्दे के प्रति उदासीनता इतनी गहरी है कि इस सूची में शामिल लोगों तक को एक पैसा भी नहीं मिला।

दूसरी ओर आशा की एक किरण है कि इन्हीं में से कुछ स्त्रियां अपने समुदाय में बदलाव की शुरुआत करने वाली नेता के रूप में उभरी हैं। दिल्ली की मीना ऐसी ही एक मिसाल है। हालांकि जनजाति निगम ने ऋण के लिए उसकी अर्ज़ी खारिज़ कर दी जिससे वह खुद अपना ई-रिक्शा खरीद पाती परन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी। वह अपनी रोज़ की आमदनी में से छोटी-छोटी बचत कर रही है ताकि एक दिन अपना रिक्शा ख़रीद पाए।

यह वही देश है जिसकी राजधानी में विश्व स्तरीय मेट्रो रेल चलती हैं। बग़ैर व्यक्ति के टिकट जांच व्यवस्था काम करती है। लेकिन फिर भी जब सीवर लाइन के गड्ढे गंदगी से भर जाते हैं तो खुद इंसानों को इस गंदगी में धंसकर उसे साफ़ करना पड़ता है।

क्या इस तरह से बनती हैं महाशक्तियां?

(लेखिका के साक्षात्कार पर आधारित लेख)

फ़िल्म समीक्षा

न्याय का आह्वान

जुही जैन

फ़िल्म का नाम : इनवोकिंग जस्टिस
भाषा : तमिल (अंग्रेज़ी सब-टाइटिल के साथ)
अवधि : 86 मिनट
निर्देशन : दीपा धनराज

भारत में पारम्परिक क़ानून की कमान हर समुदाय में पुरुषों के हाथों में केंद्रित रहती है और ये सामुदायिक प्रतिनिधि अपने वर्ग, उम्र, धर्म और रुतबे के अनुसार चुने जाते हैं। जहां तक मुस्लिम पारिवारिक क़ानून की बात है तो इससे संबद्ध सभी मसले पांच पुरुषों की एक 'जमात' द्वारा निपटाये जाते हैं। हालांकि हम यह नहीं जानते कि ये पांच 'जमात' के सदस्य इसे ओहदे पर कैसे आते हैं पर हम यह ज़रूर अंदाज़ा लगा सकते हैं कि ये समुदाय के आम लोगों में से ही नियुक्त किए जाते हैं। इन पांच व्यक्तियों के हाथों में असीमित सत्ता का केंद्रीकरण होता है— जीवन और मौत की सज़ा सुनाने तक की ताकत इन हाथों में दी जाती है।

1988 में जब शरीफ़ा ख़ानम *अखिल भारतीय महिला सम्मेलन* में शामिल हुई तब वे महज़ एक अनुवादक थी। सम्मेलन में एक अहम विषय था महिलाओं के साथ हिंसा। शरीफ़ा खानम ने सोचा— क्या हम इस विषय पर बात कर सकते हैं? हिंसा तो हर दूसरी औरत के साथ होती है। अगर वह अपने पिता या पति की बात न माने तो क्या यह उनका हक़ नहीं बनता कि वे उसे रास्ते पर लाएं? इस सम्मेलन में बोया हुआ यह बीज उसके मन में जड़ पकड़ने लगा। तमिलनाडु में अपने मुसलमान समुदाय के संदर्भ में उसने महसूस किया कि औरतों के साथ होने वाले अन्याय का लगभग 90% पुरुषों की जमात द्वारा दिए गए फ़ैसलों का नतीज़ा था। बस इसी विचार ने उसे औरतों की जमात शुरू करने का हौसला दिया।

दीपा धनराज का वृत्तचित्र *इनवोकिंग जस्टिस* यानी न्याय का आह्वान तमिलनाडु की पहली परन्तु बेहद सशक्त औरतों की जमात पर आधारित है। कुछ सालों पहले तक औरतों को अपने मामलों की सुनवाई में मौजूद होने का भी अधिकार नहीं था। वे केवल खामोशी से फ़ैसले सुनती थी और उन पर अमल करती थीं। यहां यह कहना बेमानी होगा कि जमात के किसी भी फ़ैसले का विरोध करना उनके हक़ में नहीं था। इस वृत्तचित्र में दर्शाए गए दोनों मामले दो युवा लड़कियों के कत्ल से संबंधित हैं।

फ़िल्म की निर्देशक दीपा धनराज का कहना है— 'इन सभी औरतों को एक साथ हंसते, रोते, बातें करते, खेत जोतते और अपने समुदाय के न्याय संबंधी मामलों को एक संगठित तरीक़े से संबोधित करते हुए देखना मेरे लिए एक बेहद सशक्त अनुभव था। ये औरतें सदियों पुरानी उस सोच को चुनौती दे रही थी कि औरतें अपने अधिकारों के लिए खड़ी नहीं हो सकतीं। मुझे महसूस हुआ कि इन औरतों के अनुभव को देखकर दुनियाभर की औरतों को एक ताक़त का एहसास होगा। खुद नाइंसाफ़ी सहने वाली कितनी ही औरतें आज एक साथ उठ खड़ी हुई हैं। इससे अच्छी बात और क्या होगी?'

इस वृत्तचित्र के माध्यम से यह दिखाने की कोशिश की गई है कि पुरुष जमात की नाइंसाफ़ी और महिला विरोधी सोच को चुनौती देने के लिए मुसलमान महिलाओं ने यह एक ठोस कदम उठाया है। इस महिला जमात की शुरूआत 2004 में की गई थी और आज यह जमात पारिवारिक न्याय से जुड़े सभी मामलों में मार्गदर्शन, पैरवी और फ़ैसले सुनाती है। फ़िल्म में जमात की सदस्याओं का मामलों की तहकीकात, मध्यस्तता, परिवरों के साथ समझौता, पुलिस व पुरुष जमात के साथ कौशल, दृढ़ता और पक्के इरादे के साथ बातचीत करते हुए दिखाया गया है। इन महिलाओं की धर्म और न्याय दोनों के प्रति आस्था एक मिसाल के रूप में उभरती है। फ़िल्म में निर्देशक अपने कैमरे के साथ जमात की औरतों के साथ उनके पास आए मामलों से संबंधित पक्षों से मिलने उनके घर जाती है। कैमरे ने इस बात को बखूबी रिकार्ड किया है कि जमात की महिलाएं किस प्रकार मुद्दों पर अपनी समझ, कुरान और मानवतावादी सोच के बीच तालमेल बैठाकर एक भ्रष्ट, पूर्वाग्रह गस्त और विरोधी समाज के बीच काम करती हैं।

दक्षिण भारत की इस महिला जमात में अब तक तलाक़, घरेलू हिंसा से लेकर हत्या और बलात्कार संबंधी आठ हज़ार मामलों का निपटारा किया है। तमिलनाडु के 12 ज़िलों में लगभग 12000 की सदस्यता वाली यह जमात एक सड़ी-गली और भ्रष्ट व्यवस्था की जवाबदेयी स्थापित करने का एक बेहद सशक्त मंच है जिसमें पुरुष कुरान की मनमानी और रुढ़िवादी व्याख्या करके औरतों के ख़िलाफ़ भेदभाव, असमानता और हिंसा को बरकरार रखने की कोशिश में लगे हैं।

जुही जैन नारीवादी कार्यकर्ता व हम सबला की सम्पादक हैं।

कविताएं

लगातार

एकाएक
अपने पैरों को देखा
तो भर उठी दहशत से
बरसों पहले
जहां गाड़ा गया था
वहीं खड़ी थी मैं
जिसका
जो मन आया
टांगता चला गया
थैला, टोपी, अंगोछा
या
अपनी थकान
और लगता रहा सारे वक्त
कि मैं
चलती रही हूं
लगातार।

पीछे

चलते-चलते
अचानक ही पलट कर देखा
पीछे
न कोई सड़क थी, न मैदान
न वो शहर
न वे घर
न वे जगहें
न वे लोग
जहां से वह शुरू हुई थी
कहीं कुछ भी नहीं था पीछे
जैसे
वह जो जीवन जीती गई
कोई पोंछता चला गया हो
लगे हाथ।

शब्द

आंख मूंदकर
घुमाती है पेंसिल
खींचती है एक लकीर
घिर आता है
भीतर
कितना सारा शून्य
ढूंढती है वह
एक शब्द
समूची भाषा में
उसके ख़िलाफ़।

किसी दूसरी जगह

पहले ही
दूर चली गई
घर से
किसी दूसरी जगह जाने की तरह
कि लौट आए
घर लौटने की तरह।

ज्योत्सना मिलन

पिछले कुछ दिनों में कई साथी हमारा साथ छोड़ गए। *हम सबला* की ओर से हम इन सभी को अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

बिंदिया थापर

चित्रकार, रूपकार, आर्किटेक्ट, महिला व बच्चों की पुस्तकों को रंगीन चित्रों के माध्यम से जीवंत बनाने की कला में माहिर नारीवादी कलाकार।

सोचती हूं मरण क्या होता है
अगर होता है किसी का न दिखाई देना
तो हम सब, तब ही तक ज़िंदा होते हैं
एक दूसरे के लिए, जब तक दिखाई देते हैं
और उसके बाद....
और अगर होता है
आत्मा और भावनाओं का जुड़ाव
तो फिर हम मरते ही कहां हैं...
ज़िंदा तो रहते ही हैं सदैव
अपने हर कर्म, अपनी हर कला
अपने हर विश्वास
और अपने हर उस अंश में
जो हैं हमारे ही आसपास
शाश्वत!
सच कहूं तो मरण मिथ्या है
होता ही नहीं है कुछ मरने जैसा
होता है तो सिर्फ़ जीवन
और जीवंतता!!

जेनू (रेणु देवी)

दक्षिणपुरी के महिला समूह और जागोरी की सक्रिय कार्यकर्ता।

जेनू का न होना असम्भव है,
वह जीवित है अपने कारनामों में,
अपने मज़ाकों में,
अपने फ़सानों और हम सबकी यादों में,
हमारे बीच मौजूद उसकी कलाओं,
उसके गीतों में,
जेनू है-जब तक हम हैं;
हमारे मन में यादें हैं, भावनाएं हैं,
स्वाद है उसका दिया हुआ।
जेनू है और रहेगी-
जब तक अन्याय के ख़िलाफ़
लड़ने की तिकड़म भिड़ाता हमारा मन
अशांत है कुछ कर पाने को।
फिर मत कहना कि जेनू नहीं है!
शरीर भले ही न हो,
पर आत्मा अभियानों पर है
हमारे साथ बहनापे का नारा लगाती
हर मुहिम पर।

सुनीता ठाकुर

इला पाठक

गुजरात में *आवाग संस्था* के माध्यम से दहेज, हिंसा, सम्मान हत्या, गर्भ लिंग परीक्षण, साम्प्रदायिकता, नागरिक व महिला अधिकार पर कार्यरत एक प्रतिबद्ध कार्यकर्ता।

ज्योत्सना मिलन

गुजराती साहित्य की प्रतिष्ठित कथाकार, कवयित्री, पत्रिका *'अनसूया'* की सम्पादक।

मनोरमा सवूर

मुंबई विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग की प्रमुख अकादमिक व प्रोफ़ेसर, *महिला केंद्र मुंबई* में पर्यावरण, पारिस्थितिकी व नारीवादी मुद्दों की सक्रिय कार्यकर्ता।

मुकल सिन्हा

वैज्ञानिक व जन संघर्ष मंच के समन्वयक, प्रख्यात वकील, व कार्यकर्ता जिन्होंने गुजरात नरसंहार के सच को उजागर करने में अहम भूमिका निभाई।

सुधाताई वर्दे

राष्ट्रीय सेवा दल व *महिला दक्षता समिति* में दहेज, साम्प्रदायिकता, मंहगाई के मुद्दों पर कार्यरत विकास कार्यकर्ता।

वसुधा दागम्वर

दिल्ली की *मार्ग संस्था* के साथ बलात्कार, मुसलमान महिलाओं के अधिकार और सशक्तिकरण के मुद्दों पर महत्वपूर्ण अकादमिक लेखन व वकालत।

उमड़ते सौ करोड़

विरोध करो । नाचो । उठो!